ध्यान साधना

-: लेखक-संपादक :-

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय

रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

ध्यान-साधना

◆ लेखक-संपादक ◆

परम शासन प्रभावक-जैन शासन के महान् ज्योतिर्धर
पूज्यपाद *आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा.* के
तेजस्वी शिष्यरत्न, बीसवी सदी के महान् योगी,
नि:स्पृह शिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न मरुधररत्न, गोडवाड के गौरव,
प्रवचन-प्रभावक, परम पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

153

प्रकाशक

दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन 47,
कोलभाट लेन, ऑ. नं. 5,
डॉ. एम.बी. वेल्कर लेन, ग्राउंड फ्लोर, मुंबई-400 002.
Tel. 2203 45 29 • Mobile : 98920 69330

आवृत्ति : प्रथम • मूल्य : 40/- रुपये,
विमोचन : 5-2-2012, आराधना धाम, हालार तीर्थ

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 2500/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य - जैन इतिहास - जैन तत्त्वज्ञान - जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई** की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। आजीवन सदस्यों को अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक **पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** का उपलब्ध हिन्दी साहित्य, प्रतिमास प्रकाशित अर्हद् दिव्य संदेश एवं भविष्य में प्रकाशित हिन्दी साहित्य घर बैठे पहुँचाया जाएगा। आप मुंबई या बेंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चेक, ड्राफ्ट से रकम भर सकोगे।

प्राप्ति स्थान

1. दिव्य संदेश प्रकाशन
   C/o. सुरेन्द्र जैन
   47, कोलभाट लेन, ऑ. नं. 5,
   डॉ. एम.बी. वेल्कर लेन,
   ग्राउंड फ्लोर, मुंबई-400 002.
   Tel. 2203 45 29 Cell : 98920 69330
2. चंदन एजेंसी M. 9820303451
   607, चीरा बाजार, ग्राउंड फ्लोर,
   मुंबई-400 002. O. 2205 6821
3. चेतन हसमुखलालजी मेहता
   पवनकुंज, 303, A Wing,
   नाकोड़ा हॉस्पिटल के पास,
   भायंदर-401 101. (Mah.S.)
   Tel. 2814 0706 M. 9867058940
4. राहुल बैद, C/o. अरिहंत मेटल को.,
   4403, गली लोटन, जारवाडी,
   सदर बाजार, पहारी-धीरज,
   दिल्ली-110 006. M. 9810353108
5. श्री आदिनाथ जैन श्वेतांबर संघ
   श्री सुरेशगुरुजी M. 98441 04021
   नं.4, Old No. 38, फ्लोर,
   रंगराव रोड, शंकरपुरम्,
   बैंगलुरु-560 004. (कर्नाटक)

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 2500/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक प्राप्ति स्थान :

दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, 47, कोलभाट लेन, ऑ. नं. 5, डॉ. एम.बी. वेल्कर लेन,
ग्राउंड फ्लोर, मुंबई-400 002. □ 2203 45 29 Mob. : 98920 69330

दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमार्ट रोड, शंकरपुरा,
बैंगलुरु-560 004. □ (O.) 4124 7478 M. 9448277435

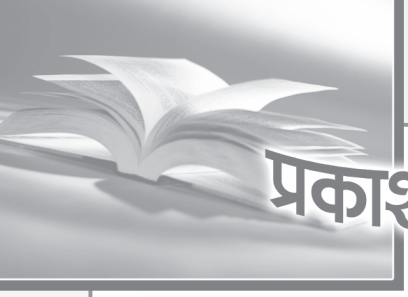

प्रकाशक की कलम से...

वर्तमान युग में ध्यान योग के उच्च कोटि के साधक, नमस्कार महामंत्र के विशिष्ट चिंतक, अनुप्रेक्षक और साधक, प्रशांतमूर्ति निःस्पृह शिरोमणि, वात्सल्य के महासागर, प्रशांतमूर्ति निःस्पृह शिरोमणि **पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के कृपापात्र चरम शिष्यरत्न प्रवचनप्रभावक मरुधररत्न पूज्यपाद **आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के संयम जीवन के 36 वें वर्ष में प्रवेश के पावन प्रसंग पर उन्ही के द्वारा हिन्दी भाषा में आलेखित 153 वीं पुस्तक **'ध्यान-साधना'** का विमोचन करने हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है ।

यद्यपि श्वे.मू. हिन्दी भाषी जैन संघ विशाल पैमाने में है, फिर भी हिन्दी साहित्य की बहुत बडी कमी है । जैन धर्म के अनेकानेक धर्म ग्रंथों पर गुजराती भाषा में विपूल प्रमाण में साहित्य उपलब्ध है, परंतु हिन्दी भाषा में बहुत ही कम प्राकृत-संस्कृत ग्रंथों पर हिन्दी साहित्य उपलब्ध है ।

राजस्थान की धन्यधरा पर, शिल्प कला और प्राकृतिक सौंदर्य की दृष्टि से सभी के लिए आकर्षण का केन्द्र बने राणकपूर महातीर्थ के समीपवर्त बाली नगर में जन्म लेकर, राजु में से मुनि रत्नसेनविजयजी और मुनि में से आचार्य पदारुढ हुए **पूज्य आचार्य श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** पिछले 25 वर्षों से हिन्दी साहित्य के सर्जन में संलग्न है ।

अनेकविध विषयों पर उनके द्वारा आलेखित साहित्य देश के कोने-कोने में पहुँचा है ।

उन्होंने अपने महान् गुरुदेव के गुर्जर साहित्य का हिन्दी भाषा में भावानुवाद एवं संपादन भी किया है ।

उनका साहित्य बहुरंगी है । जैन तत्त्वज्ञान, प्रवचन, कथा-साहित्य, युवा-युवति प्रेरक साहित्य, वैराग्य पोषक साहित्य, धारावाहिक कथा साहित्य, धार्मिक विधि-विधान प्रेरक साहित्य का निर्माण कर उन्होंने जैन शासन की सुंदर सेवा की है ।

शासनदेव से हम यही प्रार्थना करते है कि वे दीर्घायु बने-निरोगी रहे और उनके वरदहस्तों से जैन शासन की सुंदर आराधना-प्रभावना होती रहे ।

निवेदक : दिव्य संदेश प्रकाशन ट्रस्ट के ट्रस्टीगण

प्रवचन प्रभावक मरुधररत्न-हिन्दी साहित्यकार पूज्य आचार्यदेव

श्रीमद् विजय श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. का

बहुरंगी-वैविध्यपूर्ण साहित्य

	तत्त्वज्ञान विषयक	S.No.
1.	जैन विज्ञान	38
2.	चौदह गुणस्थान	96
3.	आओ ! तत्त्वज्ञान सीखें	79
4.	कर्म विज्ञान	102
5.	नव तत्त्व-विवेचन	122
6.	जीव विचार विवेचन	123
7.	तीन-भाष्य	127
8.	दंड़क-विवेचन	135
9.	ध्यान साधना	153

	प्रवचन साहित्य	S.No.
1.	मानवता तब महक उठेगी	8
2.	मानवता के दीप जलाएं	9
3.	महाभारत और हमारी संस्कृति-भाग-1	18
4.	महाभारत और हमारी संस्कृति-भाग-2	19
5.	रामायण में संस्कृति का अमर संदेश-भाग-1	27
6.	रामायण में संस्कृति का अमर संदेश-भाग-2	28
7.	आओ ! श्रावक बने !	45
8.	सफलता की सीढ़ियाँ	53
9.	नवपद प्रवचन	56
10.	श्रावक कर्तव्य-भाग-1	74
11.	श्रावक कर्तव्य-भाग-2	75
12.	प्रवचन रत्न	78
13.	प्रवचन मोती	72
14.	प्रवचन के बिखरे फूल	103
15.	प्रवचनधारा	67
16.	आनन्द की शोध	33
17.	भाव श्रावक	85
18.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	97
19.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	104
20.	संतोषी नर-सदा सुखी	87
21.	जैन पर्व-प्रवचन	115
22.	गुणवान् बनों	126
23.	विखुरलेले प्रवचन मोती	117
24.	सुखी जीवन की चाबियाँ	137
25.	पांच प्रवचन	138
26.	जीवन शणगार प्रवचन	148

	धारावाहिक कहानी	S.No.
1.	कर्मन् की गत न्यारी	6
2.	जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है	10
3.	आग और पानी भाग-1	34
4.	आग और पानी भाग-2	35
5.	मनोहर कहानियाँ	50
6.	ऐतिहासिक कहानियाँ	57

7.	तेजस्वी सितारें	58
8.	जिनशासन के ज्योतिर्धर	81
9.	प्रेरक-कहानियाँ	91
10.	मधुर कहानियाँ	98
11.	सरल कहानियाँ	142
12.	महासतियों का जीवन संदेश	93
13.	आदिनाथ शांतिनाथ चरित्र	105
14.	सरस कहानियाँ	111
15.	पारस प्यारो लागे	99
16.	शीतल नहीं छाया रे (गुज.)	25
17.	आवो ! वार्ता कहुं (गुज.)	63
18.	महान् चरित्र	129
19.	प्रातःस्मरणीय महापुरुष-1	149
20.	प्रातःस्मरणीय महापुरुष-2	150
21.	प्रातःस्मरणीय महासतियाँ-1	151
22.	प्रातःस्मरणीय महासतियाँ-2	152

युवा-युवति प्रेरक S.No.

1.	युवानो ! जागो	12
2.	जीवन की मंगल यात्रा	17
3.	तब चमक उठेगी युवा पीढी	20
4.	युवा चेतना	23
5.	युवा संदेश	26
6.	जीवन निर्माण (विशेषांक)	30
7.	The Message for the Youth	31
8.	How to live true life ?	40
9.	यौवन-सुरक्षा विशेषांक	32
10.	सन्नारी विशेषांक	59
11.	माता-पिता	77
12.	आहारः क्यों और कैसे ?	82
13.	आहार विज्ञान	39
14.	ब्रह्मचर्य	106
15	Duties towards Parents	95
16.	क्रोध आबाद तो जीवन बरबाद	80
17.	राग म्हणजे आग (मराठी)	108
18.	आई वडीलांचे उपकार	92
19.	अमृत की बुंदे	64
20.	The Light of Humanity	21
21.	Youth will Shine then	121

अनुवाद-विवेचनात्मक S.No.

1.	सामायिक सूत्र विवेचना	2
2.	चैत्यवंदन सूत्र विवेचना	3
3.	आलोचना सूत्र विवेचना	4
4.	श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र विवेचना	5
5.	चेतन ! मोहनींद अब त्यागो	11
6.	आनन्दघन चौबीसी विवेचना	7
7.	अंखियाँ प्रभुदर्शन की प्यासी	22
8.	श्रावक जीवन-दर्शन	29
9.	भाव सामायिक	107
10.	श्रीमद् आनंदघनजी पद विवेचन	94
11.	भाव-चैत्यवंदन	120
12.	विविध-पूजाएँ	125
13.	भाव प्रतिक्रमण-भाग-1	132
14.	भाव प्रतिक्रमण-भाग-2	133
15.	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	134
16.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	144
17.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	145

विधि-विधान उपयोगी

		S.No.
1.	भक्ति से मुक्ति	41
2.	आओ ! प्रतिक्रमण करें	42
3.	आओ ! श्रावक बने	45
4.	हंस श्राद्धव्रत दीपिका	48
5.	Chaitya-Vandan Sootra	52
6.	विविध-देववंदन	55
7.	आओ ! पौषध करें	71
8.	प्रभु दर्शन सुख संपदा	84
9.	आओ ! पूजा पढाएँ !	88
10.	Panch Pratikraman Sootra	61
11.	शत्रुंजय यात्रा	36
12.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	73
13.	आओ ! उपधान-पौषध करें	109
14.	विविध-तपमाला	128
15.	आओ ! भावायात्रा करें	130
16.	आओ ! पर्युषण-प्रतिक्रमण करें	136

अन्य प्रेरक साहित्य

		S.No.
1.	वात्सल्य के महासागर	1
2.	रिमझिम रिमझिम अमृत बरसे	15
3.	अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव	44
4.	बीसवीं सदी के महान् योगी	100
5.	महान ज्योतिर्धर	86
6.	मिच्छामि दुक्कडम्	60
7.	क्षमापना	69
8.	सवाल आपके जवाब हमारे	37
9.	शंका और समाधान-1	66
10.	जैनाचार विशेषांक	47
11.	जीवन ने तुं जीवी जाण	62
12.	धरती तीरथ'री	68
13.	चिंतन रत्न	114
14.	बीसवीं सदी के महीन् योगी की अमर-वाणी	101
15.	महावीरवाणी	112
16.	शंका-समाधान-भाग-2	118
17.	शंका-समाधान-भाग-3	147

वैराग्यपोषक साहित्य

		S.No.
1.	मृत्यु-महोत्सव	51
2.	श्रमणाचार विशेषांक	54
3.	सद्गुरु-उपासना	113
4.	चिंतन-मोती	90
5.	मृत्यु की मंगल यात्रा	16
6.	प्रभो ! मन-मंदिर पधारो	110
7.	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचन भाग-1	13
7.	शांत सुधारस-हिन्दी विवेचन भाग-2	14
9.	भव आलोचना	124

ध्यान-साधना क्यों और कैसे ?

जैन दर्शन में ध्यान साधना का खूब महत्त्व हैं । आत्मा पर लगी अनंत कार्मण वर्गणाओं का संपूर्ण क्षय करने की ताकत शुक्ल ध्यान में रही हुई है । अन्य दर्शन **'ध्यान'** करने की बात करते हैं, जबकि जैन दर्शन **'ध्यान'** बदलने की बात करता है ।

जैन दर्शन की यह मान्यता है कि जगत् के अधिकांश जीव **आर्त ध्यान** में डूबे हुए है । आगम का एक सूत्र हैं-**'अट्टे लोए'** । आर्तध्यान अर्थात् स्वयं को सुख की प्राप्ति का विचार और स्वयं की दु:ख मुक्ति का विचार ।

सुख और दु:ख का विचार जब स्व-केन्द्रित होता है, तब आर्त ध्यान होता हैं, जबकि उसी सुख-दु:ख का विचार जब सर्व केन्द्रित बनता हैं, तब वही ध्यान, धर्मध्यान बन जाता है ।

स्व के स्थान पर **'सर्व'** को रखने से ध्यान का स्वरुप ही बदल जाता है । **'मुझे सुख मिले और मेरा दु:ख दूर हो'** यह आर्तध्यान । जगत् के जीव मात्र को सुख मिले और जगत् के जीव मात्र दु:ख से मुक्त बने, यह धर्मध्यान है ।

सरोवर में एक पांव पर खडा बगुला भी ध्यान तो कर रहा हैं, परंतु उसका वह ध्यान आर्तध्यान स्वरुप है, क्योंकि उसके मन की एकाग्रता एक मात्र मछली को लक्ष्य में रखकर ही है ।

बिल्ली भी एकदम स्थिर हो जाती है, अपनी काया को एकदम स्थिर कर देती है, परंतु उसकी भी वह एकाग्रता आर्तध्यान स्वरुप ही है, क्योंकि बिल्ली की एकाग्रता और स्थिरता सिर्फ चुंहे का शिकार करने के लिए है । ऐसी एकाग्रता व स्थिरता से कोई आत्मिक लाभ नहीं है ।

भूतकाल में अनेक अनेक पूर्वाचार्य महर्षियों ने ध्यान के संदर्भ में अनेक-अनेक ग्रंथों का सर्जन किया है ।

पू. जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने तो ध्यान के विषय में स्वतंत्र **'ध्यान शतक'** ग्रंथ का ही सर्जन किया है ।

पू. उमास्वातिजी म. ने तत्वार्थसूत्र एवं प्रशमरति ग्रंथ में तथा **पूज्य हेमचन्द्रसूरिजी म.** ने योग शास्त्र में आर्तध्यान आदि **'ध्यान'** के स्वरुप का वर्णन किया है ।

❑ ❑ ❑

आज से ठीक दो वर्ष पूर्व **अक्षय दोशी**-जोधपूर ने पत्र द्वारा जैन धर्म में ध्यान के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए निवेदन किया ।

यद्यपि गुजराती भाषा में तो ध्यान के विषय में ढेरसारा साहित्य प्रकाशित हुआ है, परंतु हिन्दी भाषा में ध्यान विषयक साहित्य की बहुत कमी है । अक्षय की भावना को ध्यान में रखकर **'ध्यान शतक'** आदि ग्रंथों के आधार पर तथा गुजराती भाषा में उपलब्ध ध्यान शतक आदि ग्रंथों के विवेचन के आधार पर जैन दर्शन में ध्यान विषयक संक्षेप में आलेखन करने का अल्प प्रयास किया है ।

वर्षों पूर्व मैंने **महोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.** द्वारा विरचित **'अध्यात्मसार'** ग्रंथ भी लगभग कंठस्थ किया था-उस ग्रंथ में भी ध्यान के विषय में सुंदर जानकारी उपलब्ध है । अध्यात्मसार के 16 वें ध्यान अधिकार का हिन्दी विवेचन लिखने का निर्णय किया, इसी बीच **सा. श्री प्रीतिदर्शनाश्रीजी** द्वारा विवेचित एवं **डॉ. सागरमलजी जैन** द्वारा संपादित अध्यात्मसार हिन्दी विवेचन देखने में आया । उसके ध्यान अधिकार का विवेचन पढा-मुझे खूब पसंद पडा उस विवेचन का आंशिक विवेचन इस पुस्तक में परिशिष्ट में साभार संग्रहित किया है तो **पू. जिनभद्रगणी** क्षमाश्रमण द्वारा विरचित **'ध्यान शतक'** का हिन्दी विवेचन भी देखने में आया । उसके विवेचनकार है **कन्हैयालालजी लोढा** एवं **डॉ. सुषमा सिंघवी,** मैंने परिशिष्ट में ध्यान शतक की मूल गाथाओं का हिन्दी अनुवाद भी संगहित किया है । मैं उन दोनों ग्रंथों के अनुवादक-विवेचक का भी आभारी है ।

इस पुस्तक में जो कुछ शुभ हैं-उसके यश के भागी परमोपकारी वात्सल्यमूर्ति नि:स्पृह शिरोमणि भवोदधि तारक पूज्यपाद परम गुरुदेव पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य है । उन्ही की असीम कृपा से ध्यान जैसे गहन विषय पर संक्षिप्त विवेचन तैयार किया है ।

पुस्तक आलेखन में छद्मस्थतावश जिनाज्ञा विरुद्ध आलेखन हुआ हो तो त्रिविध-वि त्रिविध **मिच्छा मि दुक्कडम्...**

निवेदक

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद गुरुदेव

पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य

पादपद्मरेणु

रत्नसेनसरि....

प्रवचन प्रभावक परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा आलेखित 153 पुस्तकों में से प्राप्य पुस्तकों की सूचि

Sr. No.	पुस्तक क्रमांक	पुस्तक का नाम	मूल्य
1	34-35	आग और पानी	0/-
2	97	पर्युषण-अष्टाह्निक-प्रवचन	50/-
3	100	बीसवीं सदी के महान् योगी	300/-
4	104	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	150/-
5	117	विखुरलेले प्रवचन मोती (मराठी)	30/-
6	117	शंका-समाधान (भाग-2)	40/-
7	127	तीन-भाष्य	40/-
8	133	भाव प्रतिक्रमण (भाग-2)	60/-
9	135	दंड़क विवेचन	25/-
10	136	आओ ! पर्युषण-प्रतिक्रमण करें	55/-
11	138	पांच प्रवचन	50/-
12	140	वैराग्य शतक	35/-
13	141	गुणानुवाद	70/-
14	144	आओ संस्कृत सीखें (भाग-1)	60/-
15	145	आओ संस्कृत सीखें (भाग-2)	70/-
16	146	आध्यात्मिक पत्र	60/-
17	147	शंका-समाधान (भाग-3)	35/-
18	148	जीवन शणगार प्रवचन	40/-
19	149	प्रात:स्मरणीय-महापुरुष (भाग-1)	90/-
20	150	प्रात:स्मरणीय-महापुरुष (भाग-2)	90/-
21	151	प्रात:स्मरणीय-महासतियाँ (भाग-1)	90/-
22	152	प्रात:स्मरणीय-महासतियाँ (भाग-2)	90/-
23	153	ध्यान साधना	40/-

अनुक्रमणिका

नं.	विषय	पृष्ट संख्या
1.	ध्यान की महिमा	1
2.	आर्तध्यान के चार भेद	5
3.	रोग-वियोग प्रणिधान	10
4.	इष्ट संयोग प्रणिधान	16
5.	निदान प्रणिधान	18
6.	आर्तध्यान और गुणस्थानक	26
7.	रौद्रध्यान	28
8.	मृषानुबंधी रौद्रध्यान	31
9.	स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान	33
10.	संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान	34
11.	धर्म ध्यान	38
12.	आज्ञा विचय धर्मध्यान	46
13.	अपाय विचय धर्मध्यान	51
14.	विपाक विचय धर्मध्यान	53
15.	संस्थान विचय धर्मध्यान	55
16.	चौथा-शुक्लध्यान	69
17.	मन के अभाव में ध्यान	76
18.	शुक्ल ध्यान के चार भेद	77
19.	शुक्ल ध्यान में लेश्या	81
20.	ध्यान शतक मूल एवं अनुवाद (परिशिष्ट-1)	85
21.	अध्यात्मसार ग्रंथ का सोलहवाँ ध्यान-अधिकार (परिशिष्ट-2)	111

1 ध्यान की महिमा

भागवती दीक्षा अंगीकार करने के बाद तारक तीर्थंकर परमात्मा अपनी छद्मस्थ अवस्था में लगभग कायोत्सर्ग और ध्यान की ही साधना करते हैं ।

ध्यान में काया की स्थिरता और वाणी का मौन जरूरी है, अतः तारक परमात्मा छद्मस्थ अवस्था में संपूर्ण मौन ही रहते हैं ।

शुभ-ध्यान को अग्नि की उपमा दी गई है, जो सभी कर्मरूपी ईंधन को जलाकर भस्मीभूत कर देती है ।

'प्रशमरति' ग्रंथ में वाचकवर्य **श्री उमास्वाति जी म.** ने कहा है,

क्षपक-श्रेणिमुपगतः स समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म ।

क्षपयितुमेको यदि कर्म-संक्रमः स्यात् परकृतस्य ।।265।।

अर्थ : क्षपक श्रेणी में रही हुई आत्मा अपने शुक्ल ध्यान के बल से सभी जीवों के सभी कर्मों का क्षय करने में समर्थ होती है, यदि अन्य जीवों के द्वारा किये हुए कर्मों का संक्रमण होता हो तो ।

एक जीव के द्वारा बंधे हुए कर्मों का अन्य जीव में संक्रमण नहीं होता है, इस कारण अपने बंधे हुए कर्मों को खपाने में जीव को स्वयं को ही पुरुषार्थ करना होता है ।

प्रत्येक आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश होते हैं । प्रत्येक आत्मप्रदेश पर अनंत-अनंत कर्मवर्गणाएँ रही हुई हैं- परंतु एक पवित्र आत्मा द्वारा किये गए शुक्ल ध्यान में इतनी प्रचंड शक्ति रही हुई है कि वह उन समस्त कर्मों को जलाकर नष्ट करने में समर्थ है ।

कर्मों को जड़मूल से संपूर्ण क्षय करने की ताकत शुक्ल ध्यान में है, जब कि कर्मों का आंशिक क्षय करने की ताकत धर्मध्यान में है ।

एक ओर कर्मों का क्षय भी ध्यान के द्वारा होता है तो दूसरी ओर कर्मों का भयंकर बंध भी ध्यान के द्वारा ही होता है ।

आर्त और रौद्रध्यान में प्रचंड कर्मबंध की ताकत रही हुई है ।

◆ प्रसन्नचंद्र राजर्षि श्मशान भूमि में एक पाँव पर खड़े थे । उनकी नजर सूर्य के सामने थी । भयंकर गर्मी के दिन थे ।

बाह्य दृष्टि से उनका त्याग अजब-गजब का था । उनकी इस कठोरतम साधना से कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता ।

परंतु समवसरण में पहुँचे श्रेणिक राजा ने जब प्रभु महावीर को पूछा, **``हे प्रभु ! जिस समय मैंने प्रसन्नचंद्र राजर्षि को वंदन किया, उस समय यदि उनके आयुष्य का बंध होता तो वे मुनि आयुष्य पूर्णकर कहाँ जाते ?''**

भगवान ने कहा, **'सातवीं नरक में ।'**

श्रेणिक ने पुनः पूछा, ``प्रभु ! अभी यदि उनके आयुष्य का बंध हो तो वे कहाँ जाए ?''

प्रभु ने कहा, ``सर्वार्थ सिद्ध विमान में ।''

थोड़ी ही देर में देवदुंदुभि का नाद सुनकर श्रेणिक ने पूछा, `यह दुंदुभि क्यों बज रही है ?'

प्रभु ने कहा, **``प्रसन्नचंद्र राजर्षि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ।''**

श्रेणिक ने पूछा, **``प्रभु ! मुझे समझ में नहीं आ रहा है । थोडी देर पहले नरक- थोडी देर बाद स्वर्ग और अभी केवलज्ञान ।''**

प्रभु ने कहा, `यह सब ध्यान का प्रभाव है । जब तुम प्रसन्नचंद्र राजर्षि को वंदन कर रहे थे तब उनका मन रौद्र ध्यान से ग्रस्त था । उस समय यदि वे अपने आयुष्य का बंध करते तो उस रौद्रध्यान के फलस्वरूप वे मरकर **7 वीं नरक** में ही जाते । परंतु थोडी देर के बाद उनके ध्यान की धारा बदल गई । वे रौद्रध्यान का त्यागकर धर्मध्यान की धारा में आगे बढ़े । उस धर्म ध्यान के फलस्वरूप यदि उनके आगामी आयुष्य का बंध पड़ता तो वे **सर्वार्थ सिद्ध** विमान में जाते । परंतु चंद क्षणों में ही उनके ध्यान की धारा पूर्ण विशुद्धि की ओर बढ़ी जिसके फलस्वरूप उन्होने आत्मा पर लगे हुए समस्त घातिकर्मों का क्षय किया और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई ।

आत्मा का उत्थान और पतन **'ध्यान'** पर निर्भर है । ध्यान की शुभ्र धारा ही आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाती है और आर्त-रौद्र ध्यान की धारा ही आत्मा को अधोगामी बनाती है ।

दान धर्म के लिए धन की अपेक्षा रहती है । शील धर्म के लिए इंद्रियों के संयम की अपेक्षा रहती है । तप धर्म के लिए कायबल की अपेक्षा रहती है । जबकि भावधर्म के साधन के लिए मन की अपेक्षा रहती है ।

भाव मन में पैदा होता है । आत्मा के पतन और उत्थान में मन का सबसे अधिक महत्त्व है ।

चारों गतियों में सबसे अधिक शक्तिशाली मन मनुष्य को ही मिला है ।

देवताओं के पास मन जरूर है, परंतु उस मन के द्वारा सिर्फ सम्यग्दर्शन पा सके या टिका सके, ऐसे **'अध्यवसाय'** कर सकते हैं । नारक जीवों की भी यही स्थिति है ।

तिर्यंच अधिकतम देशविरति धर्म के योग्य अध्यवसाय प्राप्त कर सकते हैं । परंतु मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो अपने मन के द्वारा चौदह गुणस्थानक के योग्य अध्यवसायों को धारण कर सकता है ।

आजकल कई ध्यान शिविर लगते हैं, उनका उद्देश्य मन को शांत और एकाग्र करने का होता है ।

जैनदर्शन की मान्यता है कि ध्यान सीखने के लिए या करने के लिए ट्रेनिंग की आवश्यकता नहीं है । ध्यान तो चल ही रहा है ।

अनादि काल से संसारी जीव आर्तध्यान में डूबा हुआ है । ध्यान तो चल ही रहा है । आवश्यकता है अशुभ ध्यान को शुभ ध्यान में बदलने की ।

आचारांग सूत्र में कहा गया है- **'अट्टे लोए'** अर्थात् यह सारा संसार आर्त ध्यान में डूबा हुआ है ।

आर्तध्यान में डूबे मन को धर्म ध्यान में जोडने की आवश्यकता है और यह परिवर्तन पुरुषार्थसाध्य है । पुरुषार्थ द्वारा मन में उठते हुए विचारों को बदला जा सकता है ।

प्रसन्नचंद्र राजर्षि ने अपने विचारों को बदला । अपने ध्यान की धारा को change किया तो वे सातवीं नरक के बदले केवलज्ञान को भी प्राप्त कर सके ।

ध्यान-चिंता-भावना और अनुप्रेक्षा

अन्तर्मुहूर्त तक होनेवाली मन की एकाग्रता को **ध्यान** कहते हैं । जीव की चित्तवृत्ति जब एकाग्र बनती है तब उसे ध्यान कहा जाता है ।

छद्मस्थ का मन किसी एक पदार्थ में अधिकतम एक अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रह सकता है । उसके बाद अवश्य ही उसमें परिवर्तन आता है । एक ध्यान की समाप्ति के बाद मन चलित होकर पुनः जब ध्यान में स्थिर होता है, उसके बीच की स्थिति को **ध्यानांतरिका-ध्यानांतर** कहते हैं । उस समय चिंता-भावना या अनुप्रेक्षा होती है ।

वीतराग सर्वज्ञ होने के बाद द्रव्य मन कार्यकारी नहीं होता है, अतः योग निरोध अर्थात् काया की स्थिरता ही केवली भगवंत का ध्यान है । मन की एकाग्रता, स्थिरता ही छद्मस्थ के लिए ध्यान है ।

छद्मस्थों को चार प्रकार का ध्यान होता है - आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान ।

आर्तध्यान **तिर्यंचगति** का कारण है ।

रौद्रध्यान **नरकगति** का कारण है ।

धर्मध्यान **मनुष्य और देवगति** का कारण है, जब कि

शुक्ल ध्यान **मोक्ष अर्थात् परमगति** का कारण है ।

किसी भी वस्तु का गहनता से विचार करना, उसे चिंता या **चिंतन** कहते हैं । उसी वस्तु का पुनः पुनः चिंतन करने से आत्मा उससे भावित बनती है, उसे **भावना** कहते हैं ।

उसी विषय में मन की पूर्ण एकाग्रता को **ध्यान** कहते हैं और ध्यान के बाद पुनः उस विषय में गहन चिंतन करना, उसे **अनुप्रेक्षा** कहते हैं ।

2 आर्तध्यान के चार भेद

1. अनिष्ट विषय वियोग प्रणिधान

इसकी व्याख्या करते हुए **ध्यानशतक** ग्रंथ में कहा है-

अमणुण्णाणं सद्दाइ विसय वत्थूण दोसमइलस्स ।
धणियं वियोग-चिंतणं, संपओगाणुसरणं च ।।

अर्थ :- द्वेष से मलिन बनी हुई आत्मा के नापसंद ऐसे शब्दादि विषयों के वियोग के गाढ़ चिंतन या असंयोग के गाढ़ चिंतन को आर्तध्यान का प्रथम भेद कहते है ।

विवेचन :- सभी संसारी जीव कर्म के आधीन हैं । कहाँ जन्म लेना ? कहाँ मृत्यु होना ? यह सब कुछ जीव की इच्छा के आधीन नहीं है बल्कि जीवात्मा के जैसे कर्म का उदय होता है वैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग की प्राप्ति होती है ।

जगत् जीव है कर्माधीना, अचरीज कछुअ न लीना ।

ठीक ही कहा है-

'कर्म नचाए तिम ही नाचत ।'

कर्म जड़ है । जड़ की अपेक्षा चेतन की शक्ति अधिक है । कर्मों को जड़ मूल से उखेड़ने की अथवा समस्त कर्मों को भस्मीभूत करने की ताकत आत्मा में रही हुई है ।

आत्मा अनंत शक्तिशाली होने पर भी जब तक उसे अपनी शक्तियों का भान नहीं होता है, तब तक वह कमजोर ही होती है, परंतु जब आत्मा को अपने मौलिक स्वरूप का भान हो जाता है, त्योंहि आत्मा बलवान हो जाती है ।

संसार में मोहाधीन आत्माएँ कमजोर हैं, जिस प्रकार कर्म नचाए, उसी प्रकार से नाच करती हैं, इसका कारण है, आत्मा को अपने स्वरूप का ही भान नहीं है ।

जिस प्रकार जन्म से ही बकरी के टोले में रहा सिंह अपने आप को बकरी ही मान लेता है और स्वयं बकरियों के साथ बें बें करने लग जाता है, परंतु ज्योंही उसे अपने मूल स्वरूप का भान होता है, त्योंही उसका सत्त्व खिल उठता है, उसकी कायरता गायब हो जाती है और वह अद्भुत पराक्रम के लिए प्रयत्नशील बन जाता है ।

बस, इसी प्रकार आत्मा को भी जब अपने मौलिक स्वरूप का भान हो जाता है, उसके साथ ही उसकी शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं ।

निष्कर्ष यही है कि जब आत्मा स्वयं जागृत हो जाती है, तब आत्मा बलवान और कर्म कमजोर सिद्ध होता है और जब आत्मा अपने स्वरूप को ही भूल जाती है, तब आत्मा कमजोर हो जाती है और कर्म बलवान हो जाता है ।

◆ शराब के नशे में चकचूर व्यक्ति को अपने ही स्वरूप का भान नहीं होता है, वह स्वयं गरीब हो तो भी अपने आपको धनवान मान लेता है ।

शराबी बोलता है, **'कौन है अकबर ! दिल्ली का सम्राट् तो मैं हूँ ।'** और शराब का नशा उतर जाता है तब कहता है, **'मैं तो आपके दास का भी दास हूँ ।'**

शराबी को पूछा गया, कल तो तू बोल रहा था-कौन है अकबर ! दिल्ली का सम्राट मैं हूँ और आज बोल रहा है-**'जहाँपनाह ! मैं तो आप के दास का भी दास हूँ ।'**

नशा उतरने के बाद शराबी ने कहा, **'कल मैं नहीं, मेरी शराब बोल रही थी ।'**

बस, यही हालत संसार में मोहाधीन-कर्माधीन आत्माओं की है । जब तक आत्मा को मोह का नशा चढ़ा होता है, तब तक उसे अपने स्वरूप का भान नहीं होता है । धन संपत्ति-पुत्र-परिवार आदि जो कभी अपने नहीं हैं, अपने होते भी नहीं हैं, उन्हें अपना मान लेती है, परंतु ज्योंही उसके मोह का नशा उतर जाता है, उसे अपने मूल-स्वरूप का भान हो जाता है, उसकी अनंत शक्तियाँ प्रगट हो जाती हैं ।

आत्मा की अनंत शक्तियों का भान नहीं होना अथवा आत्म-स्वरूप

का विस्मरण ही आर्त और रौद्रध्यान है ।

आत्मा को जब अपने स्वरूप का भान होता है, तब आर्त और रौद्रध्यान गायब हो जाते हैं और आत्मा धर्मध्यान और शुक्लध्यान के लिए प्रयत्नशील बनती है ।

आर्तध्यान-रौद्रध्यान में डूबी आत्मा को यह भान नहीं होता है कि मेरा मूलभूत स्वभाव क्या है ? मैं कौन हूँ और मेरा क्या स्वरूप है ?

आत्मस्वरूप का विस्मरण ही आर्त-रौद्र ध्यान है, जब कि आत्म स्वरूप का स्मरण ही धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान है ।

आर्तध्यान अशुभध्यान है और रौद्रध्यान अशुभतर ध्यान है ।

आर्तध्यान में अपने दु:ख का और अपने दु:ख को दूर करने का विचार है, जब कि रौद्रध्यान में दूसरों को दु:खी करने का विचार है । अपने सुख में बाधक या दु:ख देनेवाले को मार डालने का विचार है ।

आर्तध्यान में व्यक्ति थोड़ा भान भूला हुआ है, जब कि रौद्रध्यान में पूरा भान भूला हुआ है ।

आर्तध्यान में आयुष्य का बंध पडे तो आत्मा तिर्यंच गति में जाती है । जब कि रौद्र ध्यान में आत्मा आयुष्य का बंध करे तो नरकगति के ही आयुष्य का बंध करती है ।

आर्तध्यान क्यों ?

अनादि काल से आत्मा में सुख का राग और दु:ख का द्वेष रहा हुआ है । अनादिकाल से आत्मा सुख पाने के लिए और दु:ख से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील है ।

अनादिकाल से मोह का नशा चढा होने के कारण आत्मा को अपने स्वरूप का भान नहीं है, अत: जो भौतिक सुख है, उसी को अपना सुख मान लिया है और उसी सुख को पाने के लिए उसका प्रयत्न और पुरुषार्थ है ।

वह सुख जब नहीं मिलता है, या प्राप्त हुआ सुख चला जाता है, तब आत्मा आर्तध्यान करती है ।

बाह्य पदार्थों की प्राप्ति कर्म के आधीन है । पुण्य कर्म का जोर हो तो सर्वत्र अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है और पाप कर्म का उदय हो तो प्रतिकूल सामग्री प्राप्त होती है ।

पुण्य-पाप कर्म के उदय से प्राप्त होनेवाली सामग्री को बदलना हमारे वश की बात नहीं है, परंतु उन सामग्रियों की प्राप्ति में शुभ भाव के प्रवाह को जीवंत रखना, यह तो हमारे हाथ की बात है ।

अपने मन को जो पसंद नहीं है, ऐसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का संपर्क हो गया हो तो उन शब्द आदि के वियोग की सतत चिंता करना, यह आर्तध्यान का पहला प्रकार है ।

गधा रेंगता हो तो मन को पसंद नहीं पडता है । उसकी कर्कश आवाज को सुनकर मन दु:खी हो जाता है । अपनी आँख के सामने कोई कोढ़ी आ जाय तो मन बेचैन हो जाता है ।

बादाम खाते समय कोई कड़वी बादाम आ जाय या पूरणपोली खाते समय मुँह में कोई कंकड़ आ जाय तो mood खराब हो जाता है ।

आसपास कोई कुत्ता या चूहा मरा हुआ हो तो उसकी दुर्गंध से मन परेशान हो जाता है ।

किसी वस्तु के कर्कश स्पर्श को प्राप्तकर मन नाखुश हो जाता है ।

मन के प्रतिकूल संयोग खड़े होने पर मन सतत उसके वियोग की चिंता करता रहता है । मन का यह चिंतन ही आर्तध्यान है ।

आर्तध्यान से बचने का उपाय

मन के प्रतिकूल शब्द आदि विषयों का संबंध होने पर मन आर्तध्यान के आधीन बन जाता है-उस समय अपने मन को आर्तध्यान से बचाने के लिए निम्न प्रकार से चिंतन करना चाहिए ।

1) मुझे जो कुछ प्रतिकूल सामग्री मिली है वह मेरे ही अशुभ कर्म का फल है, अत: उसको स्वीकार करने में ही लाभ है ।

2) जब मैंने हँसते हँसते कर्म का बंध किया है तो उस कर्म की सजा भी

मुझे हँसते मुँह स्वीकार कर लेनी चाहिए, विरोध करने से क्या फायदा ?

3) दुनिया में हमेशा वही होता है, जो केवली भगवंतों ने अपने केवलज्ञान के दर्पण में देखा है- उसमें लेश भी परिवर्तन करने की ताकत किसी में नहीं है, तो फिर मुझे आर्तध्यान करने की क्या आवश्यकता है ।

4) अशुभ कर्म के उदय से जो संयोग खड़े हुए हैं उनमें यदि मैं समता भाव धारण करूंगा तो मुझे अपूर्व कर्मनिर्जरा ही होनेवाली है, अत: कर्मनिर्जरा के प्राप्त अवसर को आर्तध्यान कर मुझे खोना नहीं चाहिए ।

5) मेरे आर्तध्यान करने से कोई बाह्य संयोग बदलनेवाले नहीं हैं, अत: दुर्ध्यान कर पुन: नवीन कर्मों का बंध क्यों करूं ।

6) प्रतिकूल संयोगों में समता भाव रखने से एक ओर पूर्व कर्म का क्षय होगा तो दूसरी ओर नवीन कर्मो का बंध भी नहीं होगा । अत: यह तो एकांत लाभ का ही सौदा है ।

7) मेरे प्रति प्रतिकूल व्यवहार करनेवाला व्यक्ति तो स्वयं कर्म का बंध कर रहा है और मुझे कर्मनिर्जरा का अवसर दे रहा है, अत: वह तो मेरा उपकारी है, ऐसा मानना चाहिए ।

उत्तम भावनाओं से मन को भावित किया जाय तो आर्तध्यान के प्रसंग में भी अपने आपको दुर्ध्यान से बचाया जा सकता है ।

3 रोग-वियोग प्रणिधान

आर्तध्यान के दूसरे भेद का स्वरूप बताते हुए **'ध्यानशतक'** में कहा है–

तह सूलसीसरोगाइ-वेयणाए विओगपणिहाणं ।
तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउल मणस्स ।।

अर्थ :- शूल-सिरदर्द आदि रोगों की वेदना होने पर उस वेदना के निवारण में व्याकुल मनवाले को तथा भविष्य में वह रोग न आए, उसकी चिंता करनेवाले को **रोगवियोग प्रणिधान** नाम का आर्तध्यान होता है ।

विवेचन :- अशाता वेदनीय कर्म के उदय से शरीर में रोग पैदा होते हैं ।

सामान्यत: मोहाधीन आत्माओं को भोजन, धन, पुत्र, पत्नी-परिवार-प्रतिष्ठा आदि से भी सबसे अधिक राग स्व-शरीर पर ही होता है ।

शरीर पर सबसे अधिक रागभाव होने के कारण उस शरीर में पैदा हुए रोग के निवारण के लिए संसारी जीव सब कुछ छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है ।

दान की बात आती है परंतु धन के ममत्व के कारण धन छूटता नहीं है, परंतु शरीर के रोग के निवारण के लिए हजारों रुपयों का भी खर्च करना पड़े तो व्यक्ति करने के लिए तैयार हो जाता है ।

पाँच इन्द्रियों पर संयम रखना मुश्किल है परंतु शरीर के रोग-निवारण के लिए डॉक्टर की सलाह से खाने में प्रिय वस्तु का त्याग करना पडे तो वह भी करने के लिए तैयार हो जाता है ।

अष्टमी-चतुर्दशी को आयंबिल करने की बात आए तो कहता है, मुझ से आयंबिल नहीं होता है । लूखी रोटी तो मुँह में भी नहीं जाती है, परंतु डॉक्टर कह दे कि हार्ट या B.P. की तकलीफ के कारण घी छोड़ना पड़ेगा तो व्यक्ति देह के राग के कारण उसी दिन से घी छोड़ने के लिए तैयार हो जाएगा ।

हमेशा भोजन में मिठाई की choice करनेवाला भी डायाबिटीज की तकलीफ में हमेशा के लिए मिठाई व शक्कर छोड़ने के लिए तैयार हो जाता है ।

फीकी चाय आने पर गुस्सा करनेवाला व्यक्ति, डायाबिटीज हो जाने

पर फीकी चाय भी बड़े प्रेम से पीने के लिए तैयार हो जाता है ।

देह के पालन-पोषण-रक्षण और संर्वधन के लिए व्यक्ति क्या क्या नहीं छोड़ता है ।

देह को बचाने के लिए, देह के रोग निवारण के लिए वह सब कुछ करेगा । सब कुछ छोड़ेगा । सब कुछ कष्ट सहन करेगा ।

जीवात्मा को देह की ममता इतनी गाढ़ है कि पाँच-छह फुट की काया में मात्र पाँव में आधा इंच का भी काँटा लग जाता है तो व्यक्ति का ध्यान उस ओर केन्द्रित हो जाता है । मुँह में 32में से सिर्फ एक ही दाँत में दर्द हो तो भी जीभ उस पर ही घूमती है और मन भी वहीं पर केन्द्रित हो जाता है ।

काया की माया अजब गजब की है । काया के रोगनिवारण के लिए मानव हजारों-लाखों रुपये पानी की तरह बहा देगा ।

देह के रोगनिवारण के लिए वह कुटुंब को छोड़ने के लिए तैयार हो जाएगा ।

संसारी जीव का एक मात्र लक्ष्य है-कि शरीर नीरोग रहना चाहिए । लोक में भी कहावत है- **'पहला सुख निरोगी काया ।'**

काया रोगों से ग्रस्त है तो सुख कहाँ ? यह मोहाधीन आत्माओं की मान्यता है ।

देह में आत्मबुद्धि बहिरात्म-दशा है । उस दशा में रही आत्मा, देह को ही सर्वस्व मानती है ।

देह में रहे रोगनिवारण का ध्यान-यह दूसरे नंबर का आर्तध्यान है ।

रोग आने पर डॉक्टर को बुलाओ-वैद्य को बुलाओ- **''मुझसे यह दर्द सहन नहीं होता है ।** यह दर्द मेरे लिए असह्य बनता जा रहा है । इस रोग की चिकित्सा कौन करेगा ? मेरा यह रोग कब दूर होगा ?''

`अब वापस बीमारी तो नहीं आएगी न ?' बस, इस प्रकार की चिंताओं में आकुल व्याकुल बना मन आर्तध्यान से ही ग्रस्त कहलाता है ।

संसार में परिभ्रमण कर रही आत्मा ने अज्ञानता या मोह आदि के कारण हिंसा आदि पापों का आचरण कर अशाता वेदनीय कर्म भी खूब-खूब

बांधा है । जब कर्म बाँधा है तो वह कर्म उदय में आएगा ही । अशाता वेदनीय कर्म के उदय के कारण शरीर में रोग पैदा होते हैं ।

उन रोगों को समतापूर्वक सहन न कर आर्तध्यान दुर्ध्यान करने से पुनः नवीन कर्म का बंध होता है; जिसके फलस्वरूप पुनः जीवन में नए दुःखों का ही आगमन होता है ।

जिस प्रकार धन के साथ चोरी का भय है उसी प्रकार मानव काया के साथ रोग का भय जुड़ा हुआ है ।

मानव शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम राजि है । एक-एक रोम राजि पर पौने दो रोग सत्ता में पड़े हुए हैं । कब कौनसा रोग उदय में आएगा, कुछ भी कह नहीं सकते हैं ।

काया में रोग पैदा हो-कोई आश्चर्य की बात नहीं है । काया पूर्ण स्वस्थ रहे, यही आश्चर्य है ।

आर्तध्यान से बचने के उपाय

(1) काया जब रोगों का घर बन जाती है, तब आर्तध्यान होना सहज है, परंतु प्रयत्न और पुरुषार्थ द्वारा मन को दुर्ध्यान से बचाया जा सकता है । याद करें **अनाथी मुनि** को !

वे जब गृहस्थ-जीवन में थे, तब उनकी काया रोगों से घिर गई थी । अनेक-अनेक उपचार करने के बाद भी वे अपनी काया को रोगमुक्त नहीं कर पाए ।

उनकी अंतरात्मा में एक शुभ भाव पैदा हुआ । **''रोग जाए जो आजनी राते, तो संयम लेउँ प्रभाते ।''** यदि इस रात्रि में मेरा रोग चला जाएगा तो प्रातःकाल होने पर मैं संयम जीवन को स्वीकार कर लूंगा ।

सचमुच, इस शुभ भावना के प्रभाव से उनकी काया रोगमुक्त हो गई ....और प्रातःकाल होने पर वे संयम मार्ग के पथिक बन गए । संयम का स्वीकार कर वे कठोरतम संयम साधना में आकण्ठ डूब गए ।

(2) देह में पैदा हुए 16 भयंकर रोगों को जानकर **सनत्कुमार** चक्रवर्ती आर्तध्यान में नहीं डूबे । तत्क्षण शरीर की क्षणभंगुरता, आरोग्य की अनित्यता आदि का विचारकर संयम के मार्ग पर निकल पड़े ।

न तो वे रोगों से घबराए और न ही उन रोगों की चिकित्सा की । छह

मास तक उनका अंत:पुर परिवार पीछे-पीछे घूमता रहा । उनको वापस लौटने के लिए अनुरोध करता रहा । परंतु देह में निरपेक्ष बने सनत् कुमार महामुनि ने देह के रोगों की लेश भी चिंता नहीं की । उन रोगों से वे विह्वल नहीं बने । उन रोगों की पीड़ा को 700-700 वर्षों तक समतापूर्वक सहन करते रहे ।

उनकी इस निर्मल साधना के फलस्वरूप उनमें अनेक प्रकार की लब्धियाँ पैदा हुईं । शरीर के रोगों को एक क्षण में नष्ट कर सके, ऐसी लब्धियाँ उन्हें प्राप्त हुईं । परंतु उन्होंने कभी भी अपनी लब्धि का प्रयोग देह के रोग को मिटाने के लिए नहीं किया ।

देह रोग से भी अधिक उन्हें कर्म-रोग को मिटाने की चिंता थी ।

वैद्य के रूप में आए देवताओं ने उनकी परीक्षा भी की, उस परीक्षा में भी वे उत्तीर्ण ही हुए ।

(3) अन्यत्व भावना से मन को भावित करें । तलवार म्यान में रहती है, फिर भी तलवार म्यान से अलग है । उसी प्रकार आत्मा शरीर में रहती है, फिर भी शरीर से अलग है ।

'मैं शरीर से भिन्न अजर, अमर, अविनाशी आत्मा हूँ'- इस प्रकार की भावना से आत्मा को भावित करने पर शरीर में पैदा हुए रोगों के असर से मन को बचाया जा सकता है ।

रोग तो शरीर में पैदा हुए हैं, जब कि मैं तो शरीर से भिन्न आत्मा हूँ ।

शारीरिक रोगों का आत्मा के साथ कोई संबंध नहीं है । शरीर के रोगी होने से कोई आत्मा रोगी नहीं बन जाती है, अत: शरीर के रोगों में मुझे विह्वल बनने की आवश्यकता नहीं है ।

(4) एक साध्वीजी म. को भयंकर कैंसर था । कैंसर की भयंकर वेदना में भी उनका चित्त प्रसन्न था । वे लेश भी आकुल-व्याकुल नहीं होते थे ।

लोग उन्हें शाता पूछने के लिए आते तो उनका एक ही जवाब होता-

''रथ बीमार है, सारथी आनंद में है ।''

रथ अर्थात् शरीर । सारथी अर्थात् आत्मा । शरीर बीमार है, किंतु सारथी आनंद में है ।

प्रश्न - शरीर बीमार होने पर भी मन कैसे प्रसन्न रह सकता है ?

उत्तर - शरीर की बीमारी को हम मन पर लेते हैं, तभी उस बीमारी से मन प्रभावित होता है । शरीर के प्रति जितनी गाढ़ ममता होगी उसकी बीमारी का प्रभाव उतना ही ज्यादा होगा ।

दुनिया में भी हम देखते हैं कि जिस वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे मन में गाढ़ ममता होती है, उस वस्तु का वियोग हमें दु:ख देता है ।

सुख-दु:ख का आधार बाह्य वस्तु नहीं है, परंतु उस वस्तु के प्रति रही हुई ममता ही है ।

गाढ़ मिथ्यात्व की दशा में आत्मा, देह में ही आत्म-बुद्धि करती है । देह ही आत्मा है, देह से भिन्न कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है । अत: वह देह के पालन-पोषण व रक्षण में ही प्रयत्नशील रहती है ।

जब आत्मा पर से मिथ्यात्व का जोर घटता है, तब आत्मा में आत्म-बुद्धि पैदा होती है । आत्मा के स्वरूप का उसे भान होता है ।

देह का राग घटेगा तो देह की चिंता भी कम हो जाएगी ।

आत्मा की अमरता का भान और उसकी प्रतीति होने पर ही `आग में देह जल रहा हो, फिर भी वे महात्मा बोल सकते हैं- **``जो जल रहा है, वह मेरा नहीं है और जो मेरा है, वह जलता नहीं है ।''**

आग जलाती है देह को, आत्मा को नहीं । नमक गलाता है देह को, आत्मा को नहीं । तलवार नष्ट करती है देह को, आत्मा को नहीं ।

`देह विनाशी तू अविनाशी' इस प्रकार की प्रतीति होने के बाद देह के रोगों को, देह की पीड़ा को आत्मा प्रसन्नता पूर्वक सहन कर सकती है ।

गत भव में कर्म बाँधे हैं अर्थात् आत्मा पर कर्म का कर्जा है, अब कर्म के उदय को हँसते मुँह सहन कर लेते हैं तो नवीन कर्मों का बंध नहीं होता है, जब नवीन कर्मों का बंध नहीं होगा तो पुराने कर्मों का हिसाब पूरा हो जाएगा, आत्मा कर्म के जाल से मुक्त हो जाएगी ।

साहूकार वही कहलाता है, जो अपने कर्जे को प्रेम से चुका देता है । कर्म बाँधे हैं । इसका अर्थ है-हमारे ऊपर कर्म का कर्जा है । उन कर्मों को क्षय करने का सीधा-सरल एक ही उपाय है । **`कर्म के उदय से आए दु:खों को प्रसन्नता पूर्वक सहन कर लो ।'**

किसी व्यक्ति ने गुनाह किया है तो उस गुनाह की सजा को भुगतने के लिए उसे तैयार रहना ही चाहिए । बस, इस जीवन में जो शारीरिक रोग पैदा हुए हैं, वे भी पूर्व भव के पाप अर्थात् गुनाहों की ही सजा है, अतः उस सजा का स्वीकार करना ही चाहिए ।

जिस प्रकार साबुन द्वारा कपडे में रहे मैल को दूर किया जाता है उसी प्रकार शारीरिक रोगों में समताभाव रखने से आत्मा में लगा हुआ कर्म का मैल दूर हो जाता है ।

खान में रहा सोना मैल से युक्त होता है, परंतु उसे आग में तपाते है तो वह शुद्ध हो जाता है । शारीरिक रोगों में समताभाव रखने से आत्मा में रहा कर्म का मैल जलकर खाक हो जाता है, आत्मा निर्मल बन जाती है ।

नष्ट होना, यह शरीर का स्वभाव है, अतः रोग द्वारा शरीर नष्ट हो, इसमें आश्चर्य क्या है ! शरीर के नष्ट होने से मैं थोड़े ही नष्ट होनेवाला हूँ ।

इस प्रकार के चिंतन द्वारा मन को आर्तध्यान से रोका जा सकता है ।

रोग असह्य हो तो क्या करना ?

साधु के 22 परिषहों में रोग को भी एक परिषह कहा गया है ।

परिषह का अर्थ है, **''चारों ओर से सहन करना ।''**

परिषहों को समतापूर्वक सहन करने से कर्मों की निर्जरा ही होती है, परंतु हर व्यक्ति के जीवन में सहन करने की भी अपनी सीमा होती है ।

पहले नंबर पर तो रोग को सहन करने की ही प्रभु की आज्ञा है । परंतु रोग असह्य हो जाय तो अपवादिक मार्ग में रोग की चिकित्सा करने की छूट दी गई है । जहाँ तक हो सके वह चिकित्सा निर्दोष अथवा अल्प-आरंभ-समारंभवाली होनी चाहिए ।

वह चिकित्सा भी देह के राग के पोषण के लिए नहीं हो, बल्कि यह मानवदेह ही आत्म-साधना का श्रेष्ठ साधन है, अतः यदि यह देह स्वस्थ होगा तो मैं ज्यादा से ज्यादा धर्म आराधना कर सकूंगा, बस, इसी भावना से रोग आने पर, रोग की पीड़ा असह्य होने पर रोगों की चिकित्सा करनी चाहिए ।

कुछ रोग ऐसे होते हैं, जो थोड़े समय बाद स्वतः शांत हो जाते हैं, अतः उन सामान्य रोगों में चिकित्सा के लिए इतनी उत्सुकता नहीं होनी चाहिए ।

4 इष्ट संयोग प्रणिधान

आर्तध्यान के तीसरे भेद का स्वरूप बताते हुए **'ध्यान शतक'** में कहा है-

इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागत्तस्स ।
अवियोगाऽऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य।।

अर्थ :- इष्ट विषयों में तथा इष्ट विषयों के वेदन (भोग) में रागरक्त जीव को इष्ट पदार्थों के अवियोग की चिंता और संयोग की अभिलाषा आर्तध्यान है ।

विवेचन :- अनादिकाल से जीवात्मा में सुख का राग रहा हुआ है, उस राग को पुष्ट करने के लिए वह सुख के साधनों को अपना बनाना चाहता है । सुख के साधन प्राप्त करने के लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता है । प्राप्त हुए सुख वापस चले न जाँए, उसके लिए वह सतत चिंतातुर रहता है ।

गर्मी हो तो गर्मी से आकुल-व्याकुल होकर ठंडे पवन की इच्छा करना । उसकी प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील बने रहना आर्तध्यान ही कहलाता है ।

भोजन के लिए बैठे हों तब मनपसंद भोजन की इच्छा करना, ऋतु के अनुकूल भोजन की इच्छा करना आर्तध्यान ही है ।

वस्त्र में भी अपनी पसंदगी के वस्त्रों की इच्छा करना आर्तध्यान ही है ।

रहने के लिए मकान हवादार हो । हाई सोसायटी में निवास हो, बाग-बगीचे आदि की सुविधावाला मकान हो इत्यादि चिंता आर्तध्यान ही है ।

◆ कुमारपाल जब जंगल में भटक रहे थे, तब एक बार वे किसी झाड़ के नीचे बैठे । उस समय उन्होंने देखा, एक चूहा बिल में से अपने मुंह में सोना मोहर लेकर बाहर आ रहा है ।

चूहे के मुँह में सोना मोहर देख कुमारपाल को थोड़ा आश्चर्य हुआ-उसने एक सोना मोहर वहाँ से उठा ली ।

उस चूहे को थोड़ा अहसास हो गया कि किसी ने उसकी एक सोना मोहर उठा ली है, बस, उसी समय दुर्ध्यान करते हुए उसने अपने प्राण ही छोड़ दिए ।

यद्यपि यह सोना मोहर उस चूहे को कुछ भी काम लगनेवाली नहीं थी, फिर भी सोना मोहर की आसक्ति के कारण उसके प्राण चले गए ।

आर्तध्यान से बचने का उपाय-

भौतिक सुख का आसक्ति पूर्वक भोग कर्मबंध का ही कारण है, अत: सुखों के इन साधनों के संयोग में खुश होने जैसा नहीं है ।

सुख के साधन तो आत्मा का अध:पतन ही करानेवाले हैं, अत: उन सुखों के संयोग में राजी होने जैसा नहीं है ।

संसार का भौतिक सुख वास्तविक सुख नहीं है । मृग मरीचिका की भाँति उसमें सुख का आभास मात्र है-वास्तविक सुख नहीं है ।

ये भौतिक सुख तो आत्मा के पास पाप ही करानेवाले है । इन सुखों में जो भी आसक्त बने, उन आत्माओं की एकांत दुर्गति ही हुई है ।

शराब के नशे से भी भौतिक सुख का नशा भयंकर है । शराब का नशा तो कुछ घंटों में उतर जाता है, जब कि भौतिक सुख का नशा जिसे चढ गया, वह तो लगभग उतरता ही नहीं है ।

5 निदान प्रणिधान

'ध्यानशतक' ग्रंथ में आर्तध्यान के चौथे भेद का लक्षण बताते हुए कहा है-

देविंदचक्कवट्टित्तणाइं, गुणरिद्धिपत्थणमईयं ।
अहमं नियाणचिंतण मण्णाणाणुगममच्चंतं ।।

अर्थ :- देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के सौंदर्यादि गुण और ऋद्धि-समृद्धि की प्रार्थना स्वरूप निदान का जो चिंतन होता है और जो अधम है और अज्ञानता से भरा हुआ है । (आर्तध्यान का यह चौथा भेद है ।)

विवेचन :- इस संसार में जीवात्मा को जो कुछ भी सुख मिलता है, वह धर्म का ही फल है ।

संसार में जीवात्मा को जो कुछ भी दु:ख मिलता है, वह स्वयं द्वारा किये गए पाप का ही फल है ।

सुख मात्र धर्म से मिलता है और दु:ख मात्र पाप से मिलता है, इस बात में कहीं भी मतभेद नहीं है ।

दुनिया में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार प्रकार के पुरुषार्थ कहे गए हैं । धर्म के फलस्वरूप सब कुछ मिलता है ।

धर्म से धन भी मिलता है, धर्म से काम सुख भी मिलते हैं और धर्म से मोक्ष भी मिलता है । धर्म दो प्रकार का होता है–

1. शुद्ध धर्म और 2. मलिन धर्म

एक मात्र मोक्ष के विशुद्ध आशय से, एक मात्र आत्मकल्याण के आशय से जो धर्म किया जाता है, वह शुद्ध धर्म कहलाता है । संसार के भौतिक सुखों को पाने की लालसा से जो धर्म किया जाता है, वह मलिनधर्म कहलाता है ।

मलिन धर्म से संसार के सुख अवश्य मिलते हैं, परंतु मोक्ष नहीं ।

जब मलिनधर्म में से संसार के सुख को पाने का आशय दूर हो जाता है, तब वही धर्म विशुद्ध बन जाता है ।

विशुद्ध धर्म की आराधना के फलस्वरूप मोक्ष तो प्राप्त होता ही है, परंतु जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक संसार के सुख भी उच्च कोटि के

ही प्राप्त होते हैं ।

◆ श्रीपाल और मयणा ने विशुद्ध भाव से नवपद ओली की आराधना की थी । उस आराधना के फलस्वरूप वे नौवें भव में मोक्ष में जाएंगे, परंतु मोक्ष न हो तब तक भी उन्हें देवगति और मनुष्यगति ही प्राप्त होगी । नरक व तिर्यंचगति के द्वार बंद हो गए । मनुष्य और देवलोक में भी उन्हें उच्च कोटि के भौतिक सुख ही प्राप्त होंगे ।

विशुद्ध धर्म के प्रभाव से वे सभी भवों में सुखी हुए ।

मलिन धर्म के प्रभाव से एक बार संसार के भौतिक सुख तो मिल जाते हैं, परंतु उन सुखों को भोगने के बाद आत्मा का अध:पतन ही होता है ।

जिनेश्वर-कथित धर्म की आराधना के फलस्वरूप आगामी भव में चक्रवर्ती, देव, इन्द्र, राजा, शेठ, धनवान, रूपवान, बलवान, स्त्री-वल्लभ आदि बनने की इच्छा करना, उसका संकल्प करना-यह चौथे प्रकार का आर्तध्यान है ।

यह आर्तध्यान आत्मा का अध:पतन करानेवाला है ।

धर्म के फलस्वरूप चक्रवर्ती आदि का निदान करने से एक बार चक्रवर्तीपना आदि मिल तो जाता है, परंतु उसके परिणाम स्वरूप आत्मा की दुर्गति ही होती है ।

◆ महातपस्वी संभूति मुनि ने सनत्कुमार चक्रवर्ती के स्त्रीरत्न के केशकलाप के स्पर्श को पाकर आगामी भव में चक्रवर्ती बनने का निदान किया । वे ब्रह्मदत्त नाम के चक्रवर्ती बने भी, परंतु चक्रवर्ती पद को प्राप्तकर मरकर 7वीं नरक में चले गए ।

चक्रवर्ती की ऋद्धि का आनंद 700 वर्षों तक भोगा और उसके फलस्वरूप 33 सागरोपम की भयंकर वेदना प्राप्त हुई ।

◆ भगवान महावीर की आत्मा ने 16वें विश्वभूति के भव में भागवती-दीक्षा अंगीकार की थी ।

उग्र तपश्चर्या के द्वारा उनकी काया कृश हो गई थी । एक बार गाय के धक्के से वे भूमि पर गिर पडे । उन्हें इस प्रकार नीचे गिरते देखकर विशाखानंदी ने मजाक करते हुए कहा, **''कहाँ गया तुम्हारा बल ? एक सामान्य गाय के धक्के से भूमि पर गिर पड़े ?''**

व्यंग्य में कहे गए इन शब्दों का जवाब देने के लिए विश्वभूति तत्काल भूमि पर से खड़े हुए । गाय को दोनों सींगो से उठाकर आकाश में उछाल दी और पुनः आकाश में से नीचे आ रही गाय को भूमि पर रख दी । विश्वभूति मुनि के इस पराक्रम को देखकर डर के मारे विशाखानंदी वहाँ से भाग गया ।

उसी समय विश्वभूति ने सोचा, **''दुनिया में बल की पूजा है । बलवान से सभी डरते हैं और कमजोर को सब सताते हैं । तत्काल उन्होंने आर्तध्यान के चौथे भेद स्वरूप निदान किया ।''**

'मेरे इस तप का फल मिलता हो तो मैं आगामी भव में खूब शक्तिशाली बनूँ ।'

उस तप के फलस्वरूप वे एक भव बाद **त्रिपृष्ट नाम** के वासुदेव बने । परंतु उस वासुदेव के भव में अनेक पापाचरण कर वे 7वीं नरक में चले गए ।

विश्वभूति ने कठोर चारित्रधर्म का पालन किया, परंतु उस चारित्रधर्म के साथ **'निदान'** नाम का आर्तध्यान किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें भारी नुकसान ही हुआ ।

जितने भी वासुदेव-प्रतिवासुदेव होते हैं, वे भी पूर्वभव में नियाणा कर के ही आते हैं, इसके फलस्वरूप वे मरकर नरक में ही जाते हैं ।

यद्यपि वासुदेव-प्रतिवासुदेव उत्तम आत्माएँ हैं तिरसठ शलाका पुरुषों में उनकी गिनती है । वे पूर्वभव में सम्यक्त्व पाये हुए भी होते हैं, उस भव में भी सम्यग् दृष्टि हो सकते हैं । परंतु एक निदान नाम के आर्तध्यान के फलस्वरूप उनकी आत्मा की भी दुर्गति ही होती है ।

आगामी भव में राज-ऋद्धि आदि पाने का निदान तीन प्रकार से होता है-

1) **राग से -** सांसारिक भौतिक सुख के राग के कारण कई बार आत्मा चक्रवर्तीपने, देवपने, नगरशेठपने आदि का निदान कर लेती है ।

जैसे-कृष्ण के पिता वासुदेव ने अपने पूर्व भव में **स्त्रीवल्लभ** बनने का नियाणा किया था ।

2) **द्वेष से -** किसी व्यक्ति विशेष के प्रति रहे द्वेष भाव के कारण उसे खत्म करने की शक्ति पाने के लिए भी नियाणा होता है ।

(1) क्रोधावेश में आकर **द्वैपायन** ऋषि ने द्वारिकानगरी के नाश का नियाणा किया था ।

(2) गुणसेन राजा के प्रति द्वेष भाव के कारण **अग्निशर्मा** की आत्मा ने `भवोभव में मैं इसका हत्यारा बनूँ' - ऐसा नियाणा किया था । उस समय उसे हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान था ।

(3) विशाखानंदी को परास्त करने की भावना से विश्वभूति ने **'आगामी भव में मैं शक्तिशाली बनूँ'**-इस प्रकार का नियाणा किया था ।

3) **मोह से ।**

निदान अर्थात् धर्म का विक्रय - धर्म का यह स्वभाव है कि उसके फलस्वरूप सभी सांसारिक सुखों की प्राप्ति होती है ।

निष्काम भाव से किये गए धर्म का तो अमाप फल है ।

'धर्म' तो सच्ची माता तुल्य है, जिसके पास मांगने की आवश्यकता ही नहीं रहती है । बिना मांगे ही सब कुछ मिल जाता है ।

परंतु अनादि काल के कुसंस्कारों के कारण जीवात्मा में रही याचक-वृत्ति जाती नहीं है ।

'मिलेगा या नहीं मिलेगा ?' इस प्रकार मन की चलायमान स्थिति होने के कारण वह मांगे बिना रहता नहीं है ।

धर्म के फलस्वरूप परलोक में भौतिक सुख की याचना करने से व्यक्ति, धर्म के वास्तविक फल को हार जाता है ।

मांगने वाले को तो उतना ही मिलता है, जब कि नहीं मांगनेवाले को अमाप मिलता है ।

निदान आर्तध्यान किसको होता है ?

'निदान' नाम का आर्तध्यान परलोक संबंधी है, अतः जो परलोक को मानता हो, उसी को यह आर्तध्यान होता है, परंतु जो नास्तिक है, **'जो कुछ है, वह यही है ।'** परलोक नाम की कोई वस्तु ही नहीं है । ऐसी जिसकी मान्यता हो तो वह परलोक संबंधी निदान नहीं करता है ।

जो आस्तिक है, जो जीव-आत्मा को मानता है, परलोक को मानता है, पुण्य-पाप को मानता है, उसी को यह आर्तध्यान हो सकता है अर्थात् यह आर्तध्यान आस्तिक को ही होता है नास्तिक को नहीं ।

हाँ ! जो छठे प्रमत्त गुणस्थानक में रहे हुए हों, ऐसे आत्मसाधक मुनियों को भी यह **'निदान'** नाम का आर्तध्यान नहीं होता है ।

आर्तध्यान के पहले तीन प्रकार छठे गुणस्थानक तक हो सकते हैं, परंतु चौथा प्रकार तो पाँचवें गुणस्थानक तक ही होता है ।

नौ निदान - साधु-साध्वी के **पक्खी सूत्र** में पापकारी नौ-निदान के त्याग की बात आती है ।

1) **राजा -** देवलोक तो प्रत्यक्ष नहीं है, अतः कोई सोचे कि समृद्धिवाला राजा ही देवता है, अतः मैं अगले जन्म में राजा बनूँ ।
2) **श्रेष्ठी -** कोई सोचता है, राजा के ऊपर तो कितनी जवाबदारी होती है, अतः मैं अगले जन्म में धनवान सेठ बनूँ ।
3) **स्त्री -** कोई सोचता है, पुरुष को तो कितने कष्ट सहन करने होते हैं- व्यापार करना, युद्ध में जाना आदि अतः मैं अगले जन्म में स्त्री बनूँ ।
4) **पुरुष -** कोई सोचता है- स्त्री को तो कितनी गुलामी सहन करनी पडती है । उसे प्रसूति की पीड़ा सहन करनी पड़ती है, अतः **'मैं अगले जन्म में पुरुष बनूँ ।'**
5) **पर प्रविचारी देव -** मनुष्य का शरीर तो मल, मूत्र, श्लेष्म, वमन, पित्त, शुक्र आदि अशुचि से भरा हुआ है अतः मैं दूसरे देव-देवी का भोग कर सकूँ, पर प्रविचारी देव बनूँ ।
6) **स्वप्रविचारी देव -** दूसरे देव-देवी के भोग में तो पराधीनता है, अतः मैं ही देव-देवी के उभयरूप की विकुर्वणा कर सकूँ ऐसा स्वप्रविचारी देव बनूँ ।
7) **अल्पवेदी देव -** कोई सोचता है, देव-देवी के भोग में तो कर्म का बंध है, अतः मैं अल्प वेद के उदयवाला नौ ग्रैवेयक में देव बनूँ ।
8) **श्रीमंत श्रावक -** कोई सोचता है, देवताओं को तो अविरति का उदय होता है, अतः धर्म का फल मिलता हो तो मैं अगले जन्म में श्रीमंत श्रावक बनूँ ।
9) **दरिद्र -** कोई सोचता है- कामभोग तो दुःखदायी हैं, धन प्रतिबंधक है अतः अगले जन्म में मैं दरिद्र बनूँ ताकि गृहस्थ जीवन का त्याग कर जल्दी दीक्षा ले सकूँ ।

इन नौ निदानों में से एक से छह तक के निदान तो अवश्यमेव संसारवर्धक ही हैं ।

सातवें निदानवाला देशविरति के परिणाम प्राप्त नहीं करता है ।

आठवें निदानवाला सर्वविरति प्राप्त नहीं करता है और नौवें निदानवाला सर्वविरति प्राप्त करता है, परंतु मोक्ष प्राप्त नहीं करता है ।

आर्तध्यान के लिंग

'ध्यानशतक' ग्रंथ में आर्तध्यान के 12 लिंग बताए हैं । इन लिंगों के आधार से आत्मनिरीक्षण करने पर हमें यह ख्याल आ सकता है कि हम आर्तध्यान कर रहे हैं या धर्मध्यान कर रहे हैं ।

1) **आक्रन्दन -** प्रिय व्यक्ति का वियोग होने पर जोर से रोना, चिल्लाना उसे आक्रंद कहते है । माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन, मित्र-स्वजन आदि की Accident या आगजनी, भूकंप, बाढ़, बिजली गिरना, बस-ट्रेन-प्लेन का Accident आदि में अकाल-मृत्यु के समाचार सुनने पर जो दिल को आघात लगता है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति जोर से चिल्लाता है । यह भी आर्तध्यान का ही लिंग है ।

◆ दो भाई प्लेटफॉर्म पर खड़े थे । उनमें से एक भाई अपनी पत्नी को विदाई देने के लिए आया था । पत्नी का विरह उसके दिल को तोड़ रहा था । अत: उसकी आँखों में आँसू आ गए । दूसरा भाई प्लेटफार्म पर अकेले ही खड़ा था । स्टेशन पर सामने से ट्रेन को आते देख उसकी आँखों में भी आँसू आ गए ।

किसी ने पूछा, **''तुम क्यों रो रहे हो ?''**

उसने कहा, ''मेरी पत्नी इसी ट्रेन में आ रही है, इसलिए रो रहा हूँ ।''

उसकी पत्नी झगड़ालू थी । छोटी-छोटी बात पर झगड़ा करती थी । अत: पत्नी पीहर चली गई थी तो वह सोचता था, चलो अब बला गई । अब शांति से रहूंगा ।

संसार में किसी को पत्नी का वियोग दु:खदायी है तो किसी को पत्नी का संयोग दु:खदायी है ।

कोई अनुकूलता के वियोग के कारण दु:खी है तो कोई प्रतिकूलता के संयोग के कारण दु:खी है ।

2) **शोक -** किसी प्रिय व्यक्ति के वियोग में या धन आदि के नुकसान से सिर पर हाथ देकर बैठना, उदास हो जाना, आँखों से आँसू बहाना, शोक का ही प्रकार है ।

3) **परिदेवन -** मन में आक्रोश पैदा होने पर असभ्य वचन बोलना, उसे परिदेवन कहते हैं । यह भी आर्तध्यान का लिंग है ।

4) **ताडन -** जोर जोर से सिर पछाडना, हाथों से छाती कूटना, बाल खींचना आदि ताड़नरूप है ।

5) **निंदा -** अपने किये हुए पापों की निंदा करना-गुणस्वरूप है । परंतु व्यापार आदि में नुकसान होने पर अपनी असफलता की निंदा करना, आर्तध्यान स्वरूप है । **'मुझ में कोई अक्ल नहीं है । मैंने यह क्या कर डाला ? मेरा तो भाग्य ही उल्टा है । 'मुझे कोई सहयोग देनेवाला नहीं है ।'**-इस प्रकार की निंदा आर्तध्यान स्वरूप है ।

6) **अन्य की समृद्धि की प्रशंसा -** दूसरों की भौतिक समृद्धि देखकर, अनुमोदन की भावना से नहीं, बल्कि मन में तो स्वयं को नहीं मिली, उसका अफसोस हो और उसे पाने की तीव्र अभिलाषा हो-उस अभिलाषा के साथ जो पर-प्रशंसा की जाती है, वह भी आर्तध्यान का ही लिंग है ।

'अहो ! बंगला कितना सुंदर है !' - अहो ! यह गाड़ी कितनी अच्छी है ! कहकर मन के भीतर तो ऐसा बंगला मेरे पास हो तो कितना अच्छा, ऐसी भावना ही रही होती है ।

किसी फिल्मी हीरो-हीरोइन को देखकर बोले, `क्या रूप है !' अर्थात् मन के भीतर तो वैसा रूप पाने की ही अभिलाषा रही होती है ।

7) **विभूति-प्रार्थना -** दूसरों की विभूति-वैभव-समृद्धि-गाडी-बंगला-बाग-बगीचा आदि देखकर मन में उसे पाने की इच्छा करना । प्रभु से प्रार्थना करना । **'हे प्रभो ! मुझे गाड़ी कब मिलेगी ?'** मुझे बंगला कब मिलेगा ? इत्यादि भौतिक पदार्थों की प्रार्थना आर्तध्यान रूप है ।

8) **समृद्धि के लिए प्रयत्न -** भौतिक समृद्धि को पाने के लिए प्रबल प्रयत्न करना । यह भी आर्तध्यान रूप ही है । एक गृहस्थ का अर्थार्जन आदि के लिए होने वाला सारा प्रयत्न आर्तध्यान स्वरूप ही है ।

9) **शब्द आदि पाँच विषयों में आसक्ति -** पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं । शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श । इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की प्राप्ति होने के बाद उनमें आसक्तिभाव धारण करना । वह भी आर्तध्यान रूप ही है । तीव्र राग भावपूर्वक पाँचों इन्द्रियों के विषयों का भोग किया जाता है, वह आर्तध्यान ही है ।

10) **सम्यग् धर्म से विमुख -** संसार के भौतिक सुखों में ही आसक्त बना हुआ और दु:खों से भागनेवाला सद्धर्म अर्थात् जिनकथित धर्म की आराधना, साधना में तल्लीन बने, यह संभव ही नहीं है । वह आत्मा तो सम्यग् धर्म से विमुख ही होती है । सद्धर्म की आराधना-साधना में उसे थोड़ा भी रस नहीं होता है । जिनधर्म की आराधना को वह Humbug कहता है ।

जिनधर्म से विरुद्ध प्रवृत्ति में डूबा हुआ आर्तध्यानी ही कहलाता है ।

11) **प्रमाद में डूबा हुआ -** आर्तध्यान करनेवाला प्रमाद के सेवन में आकंठ डूबा होता है ।

प्रमाद के मुख्य 5 भेद हैं -

(1) **मद्य :** शराब, मदिरा-पान, बीड़ी, सिगरेट, तंबाकु आदि का व्यसनी होता है ।

(2) **विषय :** पांच इन्द्रियों के अनुकूल विषय शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के सेवन में डूबा होता है ।

(3) **कषाय :** क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे चार कषायों के सेवन में उत्तेजित होता है ।

(4) **निद्रा :** दिन-रात आलसी की तरह नींद में पडा रहता है । आवश्यकता से ज्यादा नींद लेना यह भी प्रमाद का ही एक प्रकार है ।

(5) **विकथा :** आत्म हितकर बातों को छोड़कर निरर्थक बातों में अपना समय व्यतीत करना । स्त्री कथा, भक्तकथा, देशकथा और राजकथा ये चार विकथाएँ हैं ।

पाँचों या पाँचों में से किसी भी प्रकार के प्रमाद में डूबा हुआ व्यक्ति आर्तध्यान में ही डूबा होता है ।

12) **जिनवचन उपेक्षा -** मोक्षाभिलाषी आत्मा के दिल में जिनवचन के प्रति खूब-खूब आदरभाव होता है । जिनवचन को जानने-समझने और उसका पालन करने में वह उत्साही होता है, जबकि संसार-रसिक या भवाभिनंदी आत्मा को संसार के क्षणिक सुखों में ही तीव्र आसक्ति होती है । सुख की आसक्ति ही उसे जिनवचन से निरपेक्ष बनाती है । जिनाज्ञा का पालन उसे अत्यंत कठिन लगता है ।

6 आर्तध्यान और गुणस्थानक

यह आर्तध्यान मिथ्यादृष्टि को, सम्यग् दृष्टि को, देशविरतिधर श्रावक को और प्रमत्त अर्थात् सर्वविरतिधर साधु को हो सकता है ।

पहले मिथ्यात्व गुणस्थानक में रहे हुए मिथ्यादृष्टि जीवों को यह आर्तध्यान होता है । जिनवचन पर जिन्हें श्रद्धा ही नहीं है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव तो प्रायः आर्तध्यान में ही डूबे होते हैं ।

इष्ट के संयोग में खुश हो और अनिष्ट के वियोग में खुश हो तथा इष्ट के वियोग में नाराज हो और अनिष्ट के संयोग में नाराज हो तो सम्यग्दृष्टि आत्मा को भी आर्तध्यान हो जाता है ।

देशविरतिधर अर्थात् श्रावक और सर्वविरतिधर साधु भी प्रमाद के वश हों तो उन्हें भी आर्तध्यान हो सकता है ।

जब तक प्रमाददशा है, तब तक आर्तध्यान की संभावना है । तात्पर्य यह है कि एक से छह गुणस्थानक तक आर्तध्यान हो सकता है, उसके ऊपर के गुणस्थानकों में नहीं ।

सातवें से लेकर ऊपर के गुणस्थानकों में प्रमाद का अंश भी नहीं होता है । अतः उन आत्माओं को आर्तध्यान नहीं होता है ।

अनादिकाल से आत्मा में अनुकूलता का राग और प्रतिकूलता का द्वेष रहा हुआ है । अतः साधु जीवन की भूमिका तक पहुँची हुई आत्मा को जब बाह्य अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है और अंतरंग आत्मजागृति न हो तो आर्तध्यान हो जाता है ।

संसार में कदम-कदम पर आर्तध्यान के निमित्त रहे हुए हैं, अतः उन निमित्तों के प्रभाव से बचना हो तो आत्म जागृति अनिवार्य है ।

श्रमण जीवन में भी जो प्रमाद के अधीन बने, वे आर्तध्यान में डूबे और जो जागृत रहे, वे आर्तध्यान से बच गए ।

आर्तध्यान में लेश्या

स्फटिक उज्ज्वल-निर्मल होता है, उसके आरपार दिखाई देता है, परंतु उसके पीछे लाल-पीला जो कोई पदार्थ रखा जाता है तो उस पदार्थ के

संपर्क के कारण वह स्फटिक भी लाल-पीला दिखाई देता है ।

बस, इसी प्रकार कृष्ण आदि द्रव्य के संबंध के कारण आत्मा शुभ-अशुभ परिणामवाली बनती है, आत्मा में पैदा होनेवाले परिणाम को ही **'लेश्या'** कहते हैं ।

लेश्या के कुल छह प्रकार हैं -1 .कृष्ण 2 .नील 3 .कापोत 4 .तेज 5 .पद्म और 6 .शुक्ल ।

इनमें कृष्ण-नील और कापोत अशुभ लेश्या हैं, जब कि तेज-पद्म और शुक्ल शुभलेश्या हैं ।

आर्त और रौद्रध्यान में अशुभलेश्याएँ होती हैं । रौद्रध्यान की अपेक्षा आर्तध्यान में अशुभ लेश्याएँ थोड़ी मंद होती हैं ।

लेश्या में मन, वचन और काया का योग सहकारी कारण है । ये लेश्याएँ तेरहवें गुणस्थानक तक होती हैं । 14वें गुणस्थानक में योग का अभाव होने से लेश्या का भी अभाव हो जाता है ।

7 रौद्रध्यान

रुद्र अर्थात् भयंकर ।

राग-द्वेष के तीव्र परिणामों से रौद्रध्यान का जन्म होता है । रौद्रध्यान में हृदय अत्यंत ही कठोर और क्रूर होता है । दया-नम्रता-सरलता को कोई स्थान नहीं होता है । रौद्रध्यान में दूसरों को मारने के, खत्म करने के क्रूर परिणाम होते हैं ।

आर्तध्यान में स्व-दु:ख की चिंता होती है, जबकि रौद्रध्यान में तो दूसरों को मारने का, खत्म करने का विचार होता है ।

अपने सुख में बाधक व्यक्ति को मौत के घाट उतारने की क्रूर लेश्या रौद्रध्यान में होती है ।

भौतिक पदार्थों के प्रति जब राग में तीव्रता आती है, तब उस वस्तु की प्राप्ति में बाधक व्यक्ति को खत्म करने का मानसिक परिणाम पैदा होता है, जो रौद्रध्यान को जन्म देता है ।

किसी व्यक्ति के प्रति जब हृदय में क्रूरता के परिणाम तीव्र बनते है, तब व्यक्ति रौद्रध्यान में चला जाता है ।

रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं-

1) **हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान -** रौद्रध्यान के प्रथम भेद का वर्णन करते हुए **'ध्यानशतक'** में कहा गया है -

सत्तवहवेद्ध-बंधण-डहणं-मारणाइ-पणिहाणं ।
अइकोहग्गहगत्थं, निग्घिणमणसोऽ हमविवागं ।।

अर्थ :- प्राणी-वध, वेध, बंधन जलाना, लांछन करना तथा मारने आदि का प्रणिधान रौद्रध्यान रूप है । यह रौद्रध्यान अत्यंत क्रोध रूपी ग्रह से ग्रस्त व्यक्ति को निर्दय परिणाम के कारण पैदा होता है जो नरकगति का कारण है ।

(1) **वध :** हाथ से, चाबुक से अथवा बेंत आदि से किसी प्राणी को मारना-पीटना आदि ।

(2) **वेध :** गाय-बैल-घोड़ा-पाड़ा आदि पशुओं के नाक-कान आदि को बींधना-नाक में डोरी डालना । उदा. जैसे बैल के नाक को बींधकर डोरी डालते हैं ।

(3) **बंधन :** डोरी-रस्सी तथा चमड़े के पट्टे आदि से पशुओं को बाँधकर रखना ।

(4) **दहन :** गर्म सुई/छ आदि से पशुओं के अंग-प्रत्यंग आदि को जलाना ।

(5) **अंकन :** पशुओं के शरीर पर डाम आदि देकर चिह्न करना ।

(6) **मारण :** हथियार या जहर देकर जीवों को खत्म करना ।

(7) **परितापन :** किसी भी जीव को अत्यंत दु:ख देना ।

(8) **परिपाटन :** किसी प्राणी की चमड़ी उतार देना, अंग उपांग आदि काटना ।

अत्यंत क्रोधावेश में आकर झाड़ आदि को जड़-मूल से उखाड़ना, आकाश में उड़ते हुए पक्षियों का शिकार करना, पानी में रहे जलचर प्राणी-मछली आदि का शिकार करना अथवा उन प्राणियों को मारने आदि के लिए मन ही मन में विचार करना हिंसानुबंधी रौद्रध्यान है ।

इस ध्यान में मन में अत्यंत ही संक्लिष्ट परिणाम होते हैं-मन क्रोध से ओतपोत होता है । हिंसानुबंधी रौद्र ध्यान के समय हृदय में दया को कोई स्थान नहीं होता है हृदय अत्यंत ही कठोर हो जाता है । **'मारो और काटो'** की ही बात होती है ।

स्वयं के सुख में जो बाधक हो, उन्हें मार देने का विचार होता है ।

``रात को मच्छर हैरान करते हैं, उन्हें खत्म कर दो, मार डालो'' ऐसा कथन रौद्रध्यान का ही प्रकार है ।

`खेत में टिड्डी आदि जीव सब अनाज खा जाते हैं उन्हें खत्म कर दो ।'

`दुकान में चूहे अनाज खा जाते हैं, उन्हें मार दो । सुअर गंदगी फैलाते हैं, उन्हें मार दो ।'

`गर्भ में रहे बालक को मार दो ।' इस प्रकार के मानसिक परिणाम रौद्रध्यान स्वरूप हैं ।

दूसरे जीवों को मारते समय, पीड़ा देते समय मन में जो खुशी होती है-वह रौद्रध्यान है ।

द्वेष का भी मूल राग भाव ही है ।

◆ एक सेचनक हाथी, दिव्यकुंडल और हार आदि को पाने के लिए कोणिक ने हल्ल-विहल्ल को रक्षण देनेवाले चेटक महाराजा से भयंकर युद्ध किया-जिस युद्ध में पहले दिन 84 लाख और दूसरे दिन 63 लाख योद्धा मौत के घाट उतार दिये गये । इतनी भयंकर हिंसा के रौद्रध्यान ने कोणिक को नरक का ही अतिथि बनाया ।

एक साथ में हजारों जीवों के मरने के समाचार सुनकर खुश होना-यह भी रौद्रध्यान ही है ।

रौद्रध्यान करनेवाला हिंसा कर्म में कुशल होता है । पापोपदेश में निपुण होता है । हिंसा में रत होता है । उसके हृदय में सहज निर्दयता होती है ।

युद्ध या दुश्मन देश के लोगों की मौत के समाचार सुनकर खुश होना-यह भी रौद्रध्यान ही है ।

8 मृषानुबंधी रौद्रध्यान

दूसरे मृषानुबंधी रौद्रध्यान का लक्षण बताते हुए **'ध्यानशतक'** में कहा है-

पिसुणासब्भ-सब्भूय-भूयघायाइ-वयण पणिहाणं ।
मायाविणोदऽ इसंधाणपरस्स, पच्छन्न पावस्स ।।

अर्थ :- मायावी, दूसरों को ठगने में तत्पर तथा एकांत में पाप करनेवाले के अनिष्ट, असभ्य, असत्य या हिंसक वचन बोलने के दृढ़ विचार में से जो ध्यान प्रगट होता है वह मृषानुबंधी रौद्रध्यान है ।

1) **पिशुनता :** अनिष्ट अर्थात् कठोर वचन बोलना । किसी की बात को इधर-उधर करना ।

2) **असभ्य :** सभा के बीच असभ्य वचन अर्थात् गाली-अपशब्द आदि बोलना ।

3) **असद्भूत :** जो जैसा न हो वैसा बोलना, उसे असद्भूत कहते हैं । इसके तीन भेद हैं -

(1) **असद्भूत उद्भावन -** वस्तु का जो स्वरूप न हो, फिर भी वैसा स्वरूप कहना । जैसे आत्मा नित्यानित्य होते हुए भी उसे एकांत नित्य अथवा एकांत अनित्य कहना । स्वयं धनी न हो, फिर भी दूसरों के आगे **'मैं धनवान हूँ'** - ऐसी बात करना ।

(2) **भूत निह्नव -** वस्तु विद्यमान हो तो भी उसके अस्तित्व से इन्कार करना । जैसे-आत्मा विद्यमान है, फिर भी उसके अस्तित्व को इन्कार करना ।

3) **अर्थांतर :** जो वस्तु जिस स्वरूप में हो उसे उस स्वरूप में न कहकर अन्यरीति से कहना । जैसे-सोने को पीतल कहना या पीतल को सोना कहना आदि ।

4) **भूतघातिवचन :** जिससे जीवों का घात हो, ऐसे वचन बोलना ।

यह रौद्रध्यान निम्न व्यक्तियों को होता है–

(1) **मायावी - 'मुख में राम बगल में छूरी'** की भाँति जो व्यक्ति माया करने

में खूब होशियार होता है । उसे यह रौद्रध्यान होता है ।

बगला एक पाँव पर स्थिर खड़ा होता है, परंतु उसका लक्ष्य तो मछली को पकड़ने में ही होता है । मायावी व्यक्ति बोलने में खूब मीठा होता है । उसकी मीठी वाणी को सुनकर भोले जीव उसके जाल में फँस जाते हैं ।

मायावी व्यक्ति बोले या न बोले, उसके मन में तो झूठ बोलने के विचार चलते ही रहते हैं । किसको किस ढंग से फँसाना ? इस कला में वह निष्णात होता है ।

(2) **दूसरों को ठगने में तत्पर -** निजी स्वार्थ के लिए दूसरों को ठगने में प्रवृत्त होता है । ऐसे ठग को भी सदैव मृषानुबंधी रौद्रध्यान होता है ।

(3) **प्रच्छन्न पापी -** बाहर से तो धर्मी-सज्जन होने का दिखावा करता हो और गुप्त रीति से मन में भयंकर पापाचरण करता हो, ऐसे प्रच्छन्न पापी को भी सदैव मृषानुबंधी रौद्र ध्यान होता है । हाथी के दाँत दिखाने के अलग होते हैं और चबाने के अलग होते हैं ।

उसी प्रकार **'मुख में राम, बगल में छुरी'** जैसा व्यवहार करनेवाले दंभी व्यक्ति को सदैव मृषानुबंधी रौद्रध्यान होता है ।

ऐसे व्यक्ति जाहिर जीवन में तो अच्छा व्यवहार रखते हैं, परंतु एकान्त मिल जाय तो भयंकर पाप करने के लिए भी तैयार हो जाते हैं ।

9 स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान

स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान का स्वरूप बताते हुए **'ध्यानशतक'** में लिखा है-

तह तिव्व कोह-लोहाउलस्स भूओवघायणमणज्ज ।
परदव्वहरण चित्तं-परलोयावाय-निरवेक्खं ।।

अर्थ :- तीव्र क्रोध और तीव्र लोभ से जिनका मन आकुल-व्याकुल बना हो । परलोक की आपत्ति की जिसे परवाह न हो, ऐसे व्यक्ति का दूसरे के धन की चोरी करने के ध्यान को **स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान** कहते हैं, जिसमें प्राणियों को खत्म करने की भी वृत्ति होती है ।

विवेचन :- पाप करने का जिसे लेश भी भय न हो, परलोक में मेरी आत्मा की क्या दुर्दशा होगी, उसका जिसे विचार भी न हो । `परलोक किसने देखा है, जो है सो यही है । यही स्वर्ग है और नरक है । परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है ।' ऐसी जिसकी मान्यता होती है, उसे अनार्य कहते हैं ।

ऐसा अनार्य व्यक्ति जब तीव्र क्रोध और तीव्र लोभ के आधीन बन जाता है, तब उसे स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान होता है ।

चोरी करने का मन दो कारणों से होता है- तीव्र क्रोध और तीव्र लोभ ।

सामनेवाला व्यक्ति जब दुश्मन लगता हो, तब उसे बर्बाद करने का भी मन हो जाता है । बस, इसी भावना से धन आदि की चोरी करने का मन होता है । किसी वस्तु को पाने के लिए मन में तीव्र-लोभ हो और वह वस्तु सुलभता से नहीं मिल पाती हो तो उस वस्तु की चोरी करने का मन होता है ।

भाई-भाई के बीच बँटवारा होता हो, तब ज्यादा भाग पाने के लिए व्यक्ति अपने मन में चोरी का `प्लान' बनाता है ।

व्यापार में भागीदारी हो तो ज्यादा भाग पाने के लोभ से चोरी का आश्रय लेता है ।

इस रौद्रध्यान में चोरी में बाधक जीव को मारने की भी वृत्ति-प्रवृत्ति होती है ।

चोरी के तीव्र दुर्ध्यान में रहे दृढ़प्रहारी ने बीच मार्ग में आए गाय आदि को भी खत्म कर दिया था ।

10 संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान

इस ध्यान का स्वरूप बताते हुए **ध्यानशतक** में कहा है -

सद्दाइ विसयसाहण धण संरक्खणपरायणमणिट्ठं ।
सव्वाभिसंकण-परोवघायकलुसाउलं चित्तं ।।22।।

अर्थ :- शब्द आदि विषयों के साधनभूत, धन आदि की रक्षा में परायण, अनिष्ट की शंकाओं से भरा हुआ तथा हिंसा के भाव से व्याकुल चित्त यह संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान है ।

विवेचन :- पाँच इन्द्रियों की आसक्ति बड़ी भयंकर है । इन्द्रियों के विषयसुखों की आसक्ति व्यक्ति के द्वारा भयंकर से भयंकर पाप कर्म करवाती है ।

विषयों के राग में से ही भयंकर युद्ध खड़े हुए हैं ।

पांच इन्द्रियों के विषयसुख को पाने के लिए धन की आवश्यकता रहती है । धन के अभाव में विषयसुखों की प्राप्ति संभव नहीं है ।

उस धन के संरक्षण की तीव्र चिंता में से रौद्रध्यान का जन्म होता है ।

धन के रक्षण के लिए रौद्र ध्यान करनेवाला किसी की हत्या आदि का भी विचार कर सकता है । **''मेरे धन को कोई चुरा लेगा तो मैं उसे खत्म कर दूंगा,''** ऐसा तीव्र अध्यवसाय होता है ।

◆ मम्मण शेठ को धन के संरक्षण संबंधी रौद्रध्यान था । इस ध्यान के फलस्वरूप वह मरकर 7वीं नरक में चला गया ।

इस ध्यानवाले को अपने धन-धान्य-सोना-चांदी आदि पर तीव्र आसक्तिभाव होता है । उस धन को बचाने के लिए वह मर मिटने के लिए तैयार रहता है ।

रौद्रध्यान के लिंग

ध्यानशतक ग्रंथ में रौद्रध्यान को पहिचानने के लिए कुछ लिंग बताए हैं ।

1) **उत्सन्न दोष :** रौद्रध्यान के चार प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार में सतत लगे रहना उत्सन्न दोष कहलाता है । एक रौद्रध्यान को छोड़ा तो दूसरे प्रकारवाले रौद्रध्यान को पकड़ेगा ।

2) **बहुल दोष :** रौद्रध्यान के चारों प्रकारों में एक साथ लीन रहना । हिंसा-झूठ-चोरी और परिग्रह संरक्षण के ध्यान में लगे रहना ।

3) **नानाविध दोष :** रौद्रध्यान के जो हिंसा आदि चार निमित्त हैं, उन निमित्तों में बार-बार प्रवृत्त होना, उनमें सतत लयलीन रहना ।

4) **आमरण दोष :** जिंदगी भर तक रौद्रध्यान का त्याग नहीं करे, उसे आमरण दोष कहते हैं । किसी के साथ कोई झगड़ा हो गया हो तो उस व्यक्ति के साथ जिंदगी भर तक वैरभाव बना रहे, वह आमरण दोष है ।

5) **अन्य के दु:ख में हर्ष :** दूसरों को आपत्ति में देखकर जो खुश होता है, वह भी रौद्रध्यानी है । दूसरों के दु:ख को देखकर सज्जन व्यक्ति के दिल में सहानुभूति की भावना पैदा होती है, जब कि दुर्जन को उसी में आनंद आता है ।

6) **इहलोक और परलोक के अपायों के प्रति निरपेक्षता :** सज्जन व्यक्ति परिणाम को नजर में रखकर ही प्रवृत्ति करते हैं । किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति में परिणाम Result का लक्ष्य होना ही चाहिए । कोई भी समझदार व्यक्ति बिना प्रयोजन कुछ भी प्रवृत्ति नहीं करता है ।

कुछ प्रवृत्तियाँ इसी लोक में अपना फल दिखाती हैं, जब कि कुछ प्रवृत्तियों का फल इस लोक में नहीं दिखता है, उसका फल परलोक में ही देखने को मिलता है । रौद्रध्यान में डूबे व्यक्ति को इहलोक या परलोक में होनेवाले दुष्परिणामों की लेश भी चिंता नहीं होती है ।

7) **निर्दयता :** हृदय की कठोरता, निष्ठुरता, दूसरे के दु:ख को देखकर हृदय लेश भी द्रवित न हो, ये सब रौद्रध्यान के ही चिह्न हैं ।

रौद्रध्यानी को बिल्कुल दया नहीं होती है । वह तो `मारो काटो' की ही बात करता है । दूसरे के प्रति हो रहे दुर्व्यवहार को देखकर उसे थोड़ी भी

दया नही होती है ।

8) **निरनुताप :** अनुचित प्रवृत्ति हो जाने के बाद मन में लेश भी खेद नहीं होना उसे निरनुताप कहते हैं । रौद्रध्यानी को अपनी भूलों का लेश भी पश्चाताप नहीं होता है । **'हिंसा की हो, झूठ बोला हो, चोरी की हो, लोभ किया हो ।'**-परंतु रौद्र ध्यान करनेवाला हमेशा यही मानता है कि मैंने जो कुछ किया है वह बराबर ही किया है । उसे अपनी भूलों का थोड़ा भी खेद नहीं होता है ।

9) **दुष्कृत की खुशी :** हिंसा आदि पापाचरण करने के बाद भी रौद्रध्यानी खुश ही होता है । उसे हिंसा आदि पापों में ही बड़ा आनंद आता है ।

रौद्रध्यान में लेश्या

जिसप्रकार आर्तध्यान में कृष्ण, नील और कापोत नाम की अशुभ लेश्याएँ होती हैं, उसी प्रकार इस ध्यान में भी ये ही तीनों अशुभ लेश्याएँ होती है और इन तीन लेश्याओं के परिणाम अत्यंत ही संक्लिष्ट होते हैं ।

रौद्रध्यान और गति

आर्तध्यान के समय आयुष्य का बंध हो तो तिर्यंच गति के ही आयुष्य का बंध होता है, उसी प्रकार रौद्रध्यान में आयुष्य का बंध हो तो अवश्य ही नरक गति के ही आयुष्य का बंध होता है ।

रौद्रध्यान और गुणस्थानक

यह रौद्रध्यान पहले मिथ्यात्व गुणस्थानक में, अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक में और देशविरत पाँचवें गुणस्थानक में हो सकता है ।

यह रौद्रध्यान अत्यंत ही भयंकर और आत्मा के भवभ्रमण को खूब बढानेवाला है ।

रौद्रध्यान में सानुबंध अशुभकर्म का बंध होता है । सानुबंध अर्थात् उस पाप कर्म की परंपरा आगे चलती रहती है ।

दुष्कृत करते समय या करने के बाद जो खुशी होती है, उसके फल स्वरूप सानुबंध पापकर्म का बंध होता है । वह पापकर्म जब उदय में आता है, नवीन पापकर्म करने का ही मन होता है ।

चित्त के तीव्र संक्लेश से सानुबंध पापकर्म का बंध होता है ।

इस संसार में सबसे अधिक भयंकर व्यक्त पीड़ा नरक गति में है ।

सबसे अधिक भयंकर व्यक्त परिणाम रौद्रध्यान के समय होते हैं ।

उत्कृष्ट रौद्र परिणाम से उत्कृष्ट नरक गति प्राप्ति होती है ।

आर्त-रौद्रध्यान से बचने का उपाय : सतत चिंतन करते रहना, यह मन का स्वभाव है । संसारी जीवों का मन अधिकांशतः आर्तध्यान और रौद्रध्यान में डूबा रहता है । उस अशुभ ध्यान से बचना हो तो जीवन में अशुभ निमित्तों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए ।

दुर्ध्यान के परिणामों को सतत नजर समक्ष रखना चाहिए । अशुभ विचारों से बचने के लिए अशुभ निमित्तों से बचना चाहिए ।

मन का सतत निरीक्षण करना जरूरी है । सतत निरीक्षण हो-`मेरा मन अशुभ के चिंतन में डूबा है या शुभ के चिंतन में ?'

धर्मध्यान का आचरण करना बहुत बडी साधना है तो आर्तध्यान से बचना यह भी कोई कम साधना नहीं है ।

संसार का राग अर्थात् सांसारिक सुखों का राग ही जीवात्मा के पास आर्तध्यान और रौद्रध्यान कराता है ।

अपुनर्बंधक दशा की प्राप्ति हुए बिना आत्मा में रहा तीव्र राग भाव और तीव्र द्वेष भाव घटता नहीं है ।

Highway पर गाड़ी चलानेवाले ड्राइवर को प्रतिपल सावधान रहना जरूरी है, ड्राइवर की थोड़ी भी असावधानी मौत का ही कारण बनती है ।

बस, साधना मार्ग में मन की चौकी खूब जरूरी है । मन का थोड़ा भी प्रमाद आत्मा को पतन के गर्त में डुबो देता है ।

`समयं गोयम ! मा पमायए' हे गौतम ! तू क्षण मात्र का भी प्रमाद मत करना । आत्मजागृति के लिए इस सूत्र को जीवन में आत्मसात् करना खूब खूब जरूरी है ।

11 धर्मध्यान

आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ ध्यान कहलाते हैं । ये आत्मा को दुर्गति में ले जानेवाले हैं जब कि धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभ ध्यान हैं, ये आत्मा को सद्गति और मोक्ष में ले जाते हैं ।

धर्मध्यान सद्गति का कारण है, जब कि शुक्लध्यान संपूर्ण कर्मक्षय का कारण है ।

अनादि काल से आत्मा को आर्तध्यान का खूब खूब अभ्यास है, अतः उसके संस्कार खूब गाढ़ हैं । छोटे से निमित्त को पाकर भी वे संस्कार जागृत हो जाते हैं ।

अशुभ संस्कारों को तोड़ने के लिए प्रचंड पुरुषार्थ की आवश्यकता रहती है । ***धर्म क्रियाएँ कर लेना आसान है, परंतु धर्मध्यान करना बहुत मुश्किल है ।***

धर्मक्रिया काया का विषय है । काया को धर्म में जोड़ना आसान है, थोड़े से प्रयास द्वारा काया को धर्म में जोड़ा जा सकता है, परंतु ध्यान मन का विषय है ।

मन को धर्मध्यान में जोड़ना बहुत ही मुश्किल है । मन को धर्म ध्यान में जोड़ने के लिए मन में रहे अशुभ संस्कारों को तोड़ने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है । अशुभ के संस्कार टूटे तो मन को शुभध्यान में जोड़ सकेंगे ।

धर्मध्यान के स्वरूप को जानने-समझने के लिए **'ध्यानशतक'** ग्रंथ में 12 द्वार chapter बताए गए है ।

1) धर्म ध्यान की भावना
2) उचित देश (क्षेत्र)
3) उचित काल
4) उचित आसन
5) आलंबन
6) ध्यान का क्रम
7) ध्यान का विषय
8) ध्याता का स्वरूप

9) अनुप्रेक्षा

10) लेश्या

11) धर्मध्यान का चिह्न

12) धर्मध्यान का फल

1) **भावना :** भावनाओं के द्वारा जिसने अपने चित्त को भावित किया हो, वह जीव ध्यान के लिए योग्य बनता है ।

मन को धर्मध्यान में जोड़ने के लिए शुभभावनाओं का पुनः पुनः अभ्यास खूब जरूरी है ।

'अध्यात्म कल्पद्रुम' में भी पू. आ. श्री मुनिसुंदर सूरिजी म. ने कहा है-

चित्त बालक !, मा. त्याक्षीरजस्रं भावनौषधीम्''

'हे चित्त ! यदि तुझे भव के रोग से बचने की इच्छा है तो तू भावना रूपी औषध का त्याग मत करना ।'

आत्मा शुभ भावनाओं से भावित नहीं बनी है, इसी कारण मन की चंचलता दूर नहीं होती है ।

भावनाओं के चार प्रकार

1) ज्ञान भावना 2) दर्शन भावना 3) चारित्र भावना और 4) वैराग्य भावना ।

1) ज्ञान भावना

ज्ञान तो आत्मा का मुख्य गुण है । ज्ञान स्वपर प्रकाशक कहलाता है । ज्ञान भावना के मुख्य 5 कार्य हैं -

1) **शास्त्राभ्यास अर्थात् स्वाध्याय -** धर्म के मर्म को समझने के लिए निरंतर स्वाध्याय में जुडा रहना चाहिए । शास्त्र के अभ्यास से ही जगत् के यथार्थस्वरूप का सत्य बोध होता है ।

ज्ञानप्राप्ति के लिए पहले सूत्रज्ञान, फिर अर्थज्ञान प्राप्त करने का विधान है । सूत्र और अर्थ के मर्म को अच्छी तरह से जानने-समझने वाला ही गीतार्थ कहलाता है ।

वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ये स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं । स्वाध्याय में लीन रहने से नए-नए श्रुत की प्राप्ति होती रहती है ।

2) **मन पर नियंत्रण -** काया स्थूल है, फिर भी उस पर नियंत्रण करना आसान है, जब कि मन तो बहुत ही सूक्ष्म है, इसके साथ ही पवन की भांति अत्यंत ही चंचल है। मन का स्वभाव जहाँ-तहाँ भटकने का है। स्वाध्याय द्वारा चंचल ऐसे मन को वश में किया जा सकता है ।

3) **वचन-शुद्धि -** सूत्रों का उच्चारण शुद्ध होना चाहिए। एक अक्षर के भी अशुद्ध उच्चारण से अर्थ का अनर्थ हो जाता है ।

4) **भव-निर्वेद -** ज्ञान भावना को विकसित करने के **लिए संसार** की असारता जरुरी है। श्रुत के माध्यम से संसार की असारता का भान होता है। संसार की असारता ख्याल में आ जाय तो संसार का त्याग भी कठिन नहीं लगता है ।

5) **ज्ञानगुण ज्ञानसार -** जीव-अजीव आदि पदार्थों के गुण-पर्याय आदि को अच्छी तरह से जानना ।

जो सदैव साथ में रहता है, उसे गुण कहते हैं। जो अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, उन्हें पर्याय कहते हैं ।

ज्ञान, दर्शन आदि आत्मा के गुण हैं। मनुष्य, पशु, देव आदि आत्मा की पर्याय है ।

आत्मा के ज्ञानादि गुणों का, आत्मा की अमरता का बोध होने से जीवन में से हताशा-निराशा दूर हो जाती है ।

पुद्‌गल की अनित्यता, परिवर्तनशीलता आदि का बोध होने से पुद्गल के प्रति रहा राग भाव समाप्त हो जाता है ।

अज्ञान को ज्ञानियों ने अंधकार की उपमा दी है, जब कि ज्ञान को प्रकाश की उपमा दी है ।

अज्ञानता के कारण ही आत्मा संसार में जहाँ-तहाँ भटकती है ।

आत्मा को ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो जाय तो उसका भटकना रुक सकता है और आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकती है ।

2) दर्शन भावना

धर्मध्यान में स्थिर बनने के लिए सर्वप्रथम भावनाओं से आत्मा को भावित करना जरूरी है। दर्शन अर्थात् सम्यग् दर्शन ।

जिनेश्वर भगवंतों के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा । मेरे परमात्मा वीतराग और सर्वज्ञ हैं, अतः उन्हें असत्य बोलने का कोई प्रयोजन ही नहीं है । उन्होंने जो कुछ कहा है-वह सब जगत् के जीवों के हित के लिए ही कहा है ।

दर्शन भावना से अपनी आत्मा को भावित करने के लिए शंका आदि पांच दोषों से मुक्त रखना चाहिए ।

1) **शंका -** जिनवचन में लेश भी शंका नहीं करना । शंका देश और सर्व दो प्रकार से होती है । जिनेश्वर प्रभु के एक वचन में शंका करना-देश शंका है और जिनेश्वर प्रभु के सभी वचनों में शंका करना-सर्व शंका है ।

2) **कांक्षा -** कांक्षा अर्थात् अन्य मिथ्यादर्शन की अभिलाषा । अन्य दर्शन की किसी एक अच्छी वस्तु को देख उस मत की अभिलाषा करना उसे कांक्षा कहते हैं ।

किसी एक मिथ्यादर्शन को अच्छा मानकर उसकी इच्छा करना-देश कांक्षा है । विश्व के सभी दर्शन, धर्मों को एक समान मानना उसे सर्व कांक्षा कहते हैं ।

कांक्षा का दूसरा अर्थ है-धर्म के फलस्वरूप इस लोक या परलोक के भौतिक सुखों की अभिलाषा करना ।

3) **विचिकित्सा -** इसके दो अर्थ हैं-

(1) जिनेश्वर कथित धर्म अनुष्ठान के फल में शंका करना ।

(2) साधु के मलिन वस्त्र आदि को देखकर उनसे घृणा करना ।

4) **प्रशंसा -** मिथ्यादृष्टि के कुल 363 भेद हैं, जो पाखंडी कहलाते हैं । उन मिथ्यादृष्टियों के कुमत की प्रशंसा करने से सम्यक्त्व दूषित होता है, अतः मिथ्यादृष्टि की कभी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए ।

5) **संस्तव-**मिथ्यादृष्टि का परिचय समागम नहीं करना चाहिए ।

शंका आदि पांच दोषों का त्यागकर प्रशम आदि पाँच गुणों का सेवन करना चाहिए ।

(1) **प्रशम :** स्व-पर शास्त्र के तत्वविषयक बोध से उत्पन्न प्रशम भाव ।

(2) **स्थिरता :** जिनशासन में निश्चल श्रद्धा । कोई देवदेवी भी आकर

विचलित न कर सके, ऐसी दृढ़ श्रद्धा ।

(3) **प्रभावना :** अजैनों में भी जैन शासन की सुंदर प्रभावना हो, ऐसे सत्कार्य करते रहना ।

(4) **आयतन सेवा :** सम्यग्दर्शन का रक्षण हो, ऐसे ही स्थानों का आश्रय करना ।

(5) **भक्ति :** देव-गुरु-संघ-तीर्थ और शास्त्रों के प्रति आदर-भक्ति बहुमान रखना ।

3) चारित्र भावना

आत्मा पर लगे हुए कर्मों के संपूर्ण क्षय के लिए चारित्र धर्म के सिवाय दूसरा कोई विकल्प नहीं है । सर्वविरति चारित्र में पाप-प्रवृत्तियों का संपूर्ण त्याग होता है, जिससे आत्मा में नवीन कर्मों का आगमन बंद हो जाता है और पुराने कर्मों का क्षय प्रारंभ हो जाता है । साधु जीवन में मुख्यतया तीन प्रवृत्ति होती हैं -

(1) **नवीन कर्मो का संवर :** चारित्र जीवन में पाप-प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग होने से नवीन कर्म का बंध सर्वथा रुक जाता है । कर्म के आगमन के जो मुख्य द्वार-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग इन सब का साधु जीवन में लगभग त्याग होने से कर्म का बंध नहींवत् होता है ।

(2) **पूर्व कर्मों का नाश :** संयम जीवन में तप की प्रधानता रहती है अर्थात् सतत निर्जरा की प्रवृत्ति चलती रहती है, जिसके फलस्वरूप आत्मा में लगे कर्मों का भी नाश हो जाता है ।

(3) **शुभ प्रवृत्ति :** साधु जीवन में अशुभ-प्रवृत्तियों का सर्वथा त्याग होता है और सतत शुभ-प्रवृत्ति-समिति-गुप्ति आदि में ही रहने का होता है ।

4) वैराग्य भावना

त्याग की आधार शिला वैराग्य ही है । जिसके जीवन में वैराग्य नहीं, उसके जीवन में त्याग टिक ही नहीं सकता है । उस वैराग्य को टिकाने के लिए 5 वस्तुएँ हैं -

(1) **जगत् स्वभाव का सत्य बोध :** वैराग्य को टिकाने के लिए जगत् में रहे जड़-चेतन पदार्थ के स्वरूप का सत्य बोध खूब लाभदायी है ।

जगत् के सारे संबंधो में स्वार्थ की बदबू रही हुई है अर्थात् सभी स्वार्थ

से भरे हुए हैं ।

आम की गुठली की कीमत तभी तक है, जब तक वह आम के रस से जुड़ी हुई है, रस से अलग होते ही उसका मूल्य शून्य हो जाता है । जगत् में व्यक्ति का मूल्य तभी तक है, जब तक उससे अपना स्वार्थ सिद्ध होता है । अत: उन संबंधों में क्या मोह रखना !

सांसारिक जड़ पदार्थ स्वयं नाशवंत और क्षणभंगुर हैं, अत: उन पदार्थों से सुख देने की क्या आशा रखना ! जब वे स्वयं ही अस्थिर हैं तो वे हमें कौनसा सुख दे सकेंगे ।

(2) **नि:संग भाव :** संसार के जड-चेतन पदार्थों पर जितनी अधिक ममता होती है, उतना ही अधिक कर्म का बंध होता रहता है । ममता से मुक्त होना अर्थात् नि:संग भाव को आत्मसात् करना ।

सच ही कहा है-संग में दु:ख है-नि:संग में सुख है ।

(3) **निर्भयता :** संसार में जो कुछ हो रहा है, वह मेरे कर्म के अनुसार ही हो रहा है । अत: मुझे भयभीत रहने की आवश्यकता नहीं है ।

भय रखने से कोई भय मिट जानेवाला नहीं है । मौत आनेवाली है तो वह निश्चित ही है । अत: मौत से भी भय रखने की आवश्यकता नहीं है ।

निर्भय बना व्यक्ति ही कर्म के संग्राम में विजय प्राप्त कर सकता है ।

(4) **निराशंसभाव :** वैराग्यभाव को टिकाने के लिए जीवन में निराशंस भाव खूब जरूरी है । इसलोक या परलोक के सुखों की आशंसा जिसके मन में रही हुई हो, वह अपने वैराग्य को कदापि टिका नहीं सकता है ।

इस लोक और परलोक के सुख तो आत्मसाधना में अत्यंत ही बाधक हैं, अत: उन सुखों की आशंसा रखना उचित नहीं है ।

(5) **क्षमा :** ज्वर से शारीरिक शक्ति का नाश होता है, उसी प्रकार क्रोध से आत्मिक शक्तियों का नाश होता है । आत्मिक-शक्तियों के उत्थान के लिए क्रोध पर अंकुश होना खूब जरूरी है ।

उबलते हुए पानी में प्रतिबिंब ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती है, उसी प्रकार क्रोधी व्यक्ति भी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है ।

उचित क्षेत्र

ध्यान के लिए स्त्री, पशु, नपुंसक और कुशील व्यक्ति के संसर्ग से रहित क्षेत्र होना चाहिए। क्योंकि यह जीव निमित्तवासी है। शुभ-अशुभ निमित्त से अपना मन अवश्य प्रभावित होता है। अशुभ निमित्त का संसर्ग अपने मन में अशुभ भाव पैदा करा देता है। अग्नि के संपर्क में आने से मोम पिघले बिना नहीं रहता है, उसी प्रकार स्त्री आदि के संपर्क से मन बिगडे बिना नहीं रहता है, अतः निर्जन व एकांत स्थान ध्यान के लिए खूब जरूरी है।

हाँ, अभ्यस्त योगी अथवा जिनका मन निश्चल है ऐसे अभ्यस्त साधक के लिए तो महल या जंगल का कोई फर्क नहीं पडता है।

उचितकाल

जिस काल में मन-वचन और काया शांत होते हैं, वह काल ध्यान के लिए अनुकूल है अर्थात् ध्यान के लिए कोई Fix काल नहीं है, परंतु जिस काल में ध्यान लगता हो, वह काल योग्यकाल कहा गया है।

उचित आसन

आसन अर्थात् काया की स्थिरता। शरीर के जिस आसन में बैठने से ध्यान में एकाग्रता आती हो, वह आसन ध्यान के लिए योग्य है। पद्मासन, वीरासन आदि अनेक प्रकार के आसन हैं। स्वयं को जिस आसन में लंबे समय तक बैठने का अभ्यास हो, वह आसन ध्यान के लिए योग्य है।

ध्यान के लिए क्षेत्र, काल और आसन आदि का एकांत निर्देश नहीं किया गया है, क्योंकि भूतकाल में अनेक मुनियों ने सभी क्षेत्रों, सभी कालों और सभी आसनों में कषायों का उपशमन कर केवलज्ञान प्राप्त किया है, अतः ध्यान के लिए विशेष बंधन नहीं है। जिन जिन क्षेत्र, काल और आसन में अपना मन ध्यान में स्थिर बनता हो, वो ही क्षेत्र, काल और आसन ध्यान के लिए उपयोगी हैं।

आलंबन

जिसप्रकार नीचे रहे व्यक्ति को ऊपर उठने के लिए आलंबन की आवश्यकता रहती है, बिल्डिंग में नीचे रहा व्यक्ति Lift द्वारा ऊपर चढ़ता है, पर्वत पर सीढ़ियों के द्वारा ऊपर चढ़ता है तो कुएँ में रहा व्यक्ति रस्सी-डोरी

के आलंबन से ऊपर आता है, बस इसी प्रकार ध्यान मार्ग में आगे बढ़ने के लिए भी आलंबन की आवश्यकता रहती है । वे आलंबन चार हैं-

(1) **वाचना :** गणधर अथवा पूर्वाचार्य आदि कृत ग्रंथों का गुरु भगवंत के मुख से पाठ लेना अथवा शिष्य आदि को पाठ देना, उसे वाचना कहते है । वाचना से जैनदर्शन के पदार्थों का सूक्ष्म-बोध होता है जिससे वैराग्य भाव की भी पुष्टि होती है ।

(2) **पृच्छना :** जिन आगम आदि ग्रंथों का अभ्यास-स्वाध्याय आदि किया हो, उसमें कहीं भी शंका आदि लगे तो गीतार्थ गुरु के पास अपनी शंकाओं का योग्य समाधान करना चाहिए ।

(3) **परावर्तना :** सूत्रों के स्थिरीकरण के लिए उन सूत्रों का पुनः पुनः परावर्तन अवश्य करना चाहिए ।

(4) **अनुचिंतन :** मन से सूत्र-अर्थ आदि की अनुप्रेक्षा करनी चाहिए ।

सामायिक आदि का आलंबन - उपर्युक्त चार आलंबनों के सिवाय सामायिक आदि छह आवश्यकों का भी आलंबन लेना चाहिए । भावपूर्वक सामायिक आदि की आराधना करने से भावोत्लास में अभिवृद्धि होती है ।

सामायिक धर्म के आचरण से जीवन में समताभाव की अभिवृद्धि होती है ।

ध्यान का क्रम-

ध्यान के क्रम में यहाँ दो विभाग किये हैं -

1) केवली 2) सामान्य योगी

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद साधना समाप्त हो जाती है अतः उन्हें कर्मक्षय के लिए विशेष ध्यान की अपेक्षा नहीं रहती है । मोक्ष में जाने के पहले एक अन्तर्मुहूर्त में केवली योगनिग्रह रूप शैलेशीकरण करते हैं । अन्तर्मुहूर्त में योग का निरोध कर वे अयोगी अवस्था प्राप्त कर लेते हैं । वे सर्वप्रथम मनोयोग का, फिर वचन योग का और सूक्ष्म काययोग का निग्रह करते हैं ।

धर्मध्यान में रहे साधक आत्मा के लिए ध्यान का कोई विशेष क्रम नहीं है । अपनी स्वस्थतानुसार क्रम बना सकते हैं ।

सामान्यतः ध्यान में सर्वप्रथम मन को वश करने का होता है । मन को केन्द्रित करने के लिए वचन को नियंत्रित करना जरूरी है और उसके लिए काया की स्थिरता जरूरी है । मन के निग्रह बिना ध्यान संभव ही नहीं है ।

12 आज्ञा विचय धर्मध्यान

विचय अर्थात् चिंतन ।

जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञाओं का विचार करना उसे **आज्ञा विचय** धर्मध्यान कहते हैं ।

वीतराग शासन की आराधना करनी हो तो उसके लिए जिन आज्ञा की खूब-खूब महिमा है ।

आजतक जितनी भी आत्माएँ मोक्ष में गई हैं, वे सब जिनाज्ञा की आराधना, जिनाज्ञा का पालन करके ही गई है ।

जिनाज्ञा का पालन मोक्ष के लिए है, जबकि जिनाज्ञा का भंग या जिनाज्ञा की विराधना संसार के लिए है । जीवन में जिनाज्ञा का पालन ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा मोक्ष के नजदीक पहुँचती है और ज्यों-ज्यों आज्ञा-भंग है, त्यों-त्यों आत्मा अपना संसार बढ़ाती जाती है ।

प्रभु की आज्ञा का विचार करना । यह धर्मध्यान का पहला भेद है ।

जिनेश्वर की आज्ञा की महिमा समझाते हुए **'ध्यानशतक'** ग्रंथ में जिनाज्ञा की तेरह विशेषताएँ बतलाई हैं -

(1) **सुनिपुण :** जिनेश्वर प्रभु की निपुणता कितनी है ! विश्व में रहे सभी द्रव्यों का कितना सूक्ष्म निरूपण किया है । पदार्थों की इतनी सूक्ष्म निरूपणता जैन दर्शन के सिवाय अन्यत्र कहीं पर भी नहीं है ।

धर्मास्तिकाय आदि अरूपी द्रव्यों का कितना सूक्ष्म विश्लेषण ! चौदह राज-लोकव्यापी सूक्ष्म निगोद के अनंतानंत जीवों का बोध जैन आगम के सिवाय कहीं नहीं है ।

ज्ञान के पाँच भेद और उनके 51 प्रभेद आदि का वर्णन कितना सुंदर है ।

निपुणता के कारण ही जिनेश्वर की आज्ञा जीव मात्र का हित करनेवाली है ।

(2) **अनादि-अनंत :** जिस प्रकार यह विश्व शाश्वत है, उसी प्रकार जिनेश्वर का वचन-उनकी आज्ञा भी शाश्वत है ।

यद्यपि जब-जब भी तीर्थंकर पैदा होते हैं, तब तब उनके गणधर

द्वादशांगी की रचना करते हैं । परंतु वह रचना शब्द से भिन्न हो सकती है, परंतु अर्थ से तो एक ही है ।

अर्थात् प्रभु की आज्ञा अनादि अनंत है । महावीर प्रभु ने जो पदार्थ जिस रूप में कहे है-ऋषभदेव प्रभु ने भी वैसा ही कहे है । शब्द बदलते हैं, परंतु पदार्थ कभी नहीं बदलता है, अतः उस अपेक्षा से जिनवाणी-जिनाज्ञा अनादि अनंत है ।

(3) **जीव-हितकारी :** जिनेश्वर परमात्मा की वाणी जगत् के जीव मात्र का हित करनेवाली है । इस जिनवाणी का श्रवणकर भूतकाल में अनंत आत्माओं ने अपने मोह को दूर किया है और आत्मा के परमानंद को प्राप्त किया है । जिनाज्ञा से आज तक किसी का अहित नहीं हुआ है । यह वाणी तो एकांत हितकर है ।

(4) **भूत भावना :** इसके दो अर्थ हैं-1. भूत अर्थात् सत्य । जैन दर्शन में अनेकांत दृष्टि से सत्य पदार्थों का ही निरूपण है । अन्य दर्शन पदार्थ में रहे आंशिक धर्म का एकांत निरूपण करने से असत्य सिद्ध हो जाते हैं, जैन दर्शन में स्याद्वाद शैली से पदार्थों का सत्य निरूपण है ।

स्वभाव से क्रूर और राग के विष से मूर्छित जीव भी जिनवचन से भावित बने तो उनका भी कल्याण हो गया । जिनाज्ञा के चिंतन से चिलातीपुत्र आदि अनेक घोर पापियों का भी उद्धार हो गया ।

(5) **अमूल्य अर्थात् बहुमूल्य :** सोने और रत्नों से भी जिनवाणी का मूल्य आँका नहीं जा सकता है । जिनवाणी अमूल्य है । चिंतामणि रत्न तो चिंतित पदार्थों को ही प्रदान करता है और कल्पवृक्ष भी इच्छित पदार्थ ही प्रदान करते हैं, जब कि जिनाज्ञा जिनवचन से तो अचिंत्य-अकल्प्य फल की प्राप्ति होती है । कल्पवृक्ष से तो माँगने पर ही मिलता है, जब कि जिनवचन से तो बिना मांगे ही मिल जाता है ।

जिन आज्ञा, अपनी आत्मा को कर्म के ऋण से मुक्त करानेवाली है ।

अज्ञानी करोडों वर्षों में जिन कर्मों का नाश करता है, उसे तीन गुप्ति से युक्त ज्ञानी श्वास मात्र में नष्ट कर देता है । अतः जिनवचन की महिमा अपरंपार है ।

(6) **अमृततुल्य :** जिनेश्वर की आज्ञा अमृत तुल्य है । जिनवाणी का

कितना ही पान किया जाय और अधिक पीने की ही इच्छा रहती है ।

जिनेश्वर की आज्ञा का पालन आत्मा को अमरता प्रदान करनेवाला है ।

नरक और तिर्यंच गति के सभी दु:खों का निवारण करने के लिए जिनवचन परम औषध समान हैं ।

अमित का दूसरा अर्थ अमाप है । जिनवचन के शब्द महान् हैं और उनका अर्थ भी अतिगम्भीर है । केवलज्ञानी भी जिनवचन के एक सूत्र के संपूर्ण अर्थ का वर्णन करने में समर्थ नहीं है ।

(7) **अजेय :** जगत् में अनेक मिथ्यादर्शन हैं, परंतु कोई भी दर्शन जिनमत के आगे टिक नहीं सकता है अर्थात् जिनवचन अजेय हैं ।

(8) **महा अर्थ युक्त :** जिनेश्वर भगवंत के वचन महा अर्थवाले हैं । आगे-पीछे कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है । अनुयोग द्वारात्मक अथवा नयात्मक वचन होने से कहीं भी विसंवादी वचन नहीं हैं ।

यह जिनवचन सम्यग्दृष्टि ऐसे उत्तम आत्माओं में रहा हुआ है । सभी जीव जिनवचन को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं ।

(9) **महानुभाव :** जिनवचन-जिनाज्ञा महा सामर्थ्यवाली है । चौदहपूर्वी सभी लब्धियों से संपन्न होते हैं और वे अनेक जीवों को प्रभु शासन के रसिक बनाते हैं । चौदहपूर्वी एक घड़े में से एक हजार घड़े बना सकते हैं । परलोक में भी वे जघन्य से छठे देवलोक में और उत्कृष्ट से अनुत्तर देवलोक में सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्पन्न होते हैं ।

(10) **महाविषयवाला :** जिनवचन समस्त द्रव्यों के विषयवाला है । श्रुत ज्ञानी श्रुतज्ञान के बल से सभी द्रव्यों को जानते हैं ।

जिनवचन से भावित मतिवाला मोहमाया के जाल में फँसता नहीं ।

(11) **निष्पाप :** यह जिनवचन सर्वथा निर्दोष अर्थात् पाप रहित है । यह जिनवचन असत्य आदि 32 दोषों से रहित है ।

दूसरा अर्थ-निरवद्य रीति से जिनवचन का चिंतन करना चाहिए । अर्थात् इसलोक के सुख की आकांक्षा या परलोक के सुख की आकांक्षा से अथवा दूसरे का पराभव करने की इच्छा से जिनवाणी का चिंतन नहीं करना चाहिए ।

(12) **अनिपुणजन से दुर्ज्ञेय :** जिनमें कुशलता-होशियारी नहीं है, ऐसे अल्प बुद्धिवाले जिनवाणी के मर्म को नहीं समझ सकते हैं, क्योंकि जिनवचन अत्यंत ही गंभीर अर्थवाले हैं ।

(13) **नय, भंग, प्रमाण आदि से गहन :** जिनवचन के मर्म को समझने के लिए सूक्ष्म बुद्धि चाहिए । जैनदर्शन में हर पदार्थ का बोध नय, भंगी, प्रमाण तथा गम आदि के द्वारा किया गया है । जैनदर्शन के मर्म को जानने-समझने के लिए सप्तभंगी, सात नय, द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव आदि चार प्रमाण अथवा प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान और आगम आदि चार प्रकार के प्रमाणों का स्पष्ट बोध होना चाहिए ।

जिन वचन के बोध में अवरोधक तत्त्व -

उपर्युक्त 13 कारणों से जहाँ जिनवचन का बोध ही दुर्लभ है तो फिर उसका ध्यान तो कैसे संभव होगा ?

निम्न छह कारणों से जिनवचन को समझना कठिन कहा गया है-

1) **मति की दुर्बलता :** ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र उदय हो तथा क्षयोपशम की मंदता हो तो भी जिनवचन के मर्म को समझना कठिन हो जाता है ।

जिनवचन के पदार्थों को सूक्ष्म बुद्धि से समझने की कोशिश करनी चाहिए, अन्यथा धर्म के नाम पर ही अधर्म का आचरण हो जाता है ।

2) **कुशल आचार्य का अभाव :** जिनेश्वर भगवंत के द्वारा निर्दिष्ट पदार्थों को समझने के लिए जिनमत में निपुण ऐसे आचार्य भगवंत का सुयोग होना जरूरी है । विशिष्ट बोधवाले गुरु के अभाव में जैनदर्शन के पदार्थो को समझना कठिन ही है ।

3) **ज्ञेय पदार्थों की गहनता :** धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य तथा सूक्ष्म निगोद आदि का स्वरूप बहुत ही गहन है । सामान्य बुद्धिवाला व्यक्ति उन पदार्थों को सरलता से समझ नहीं पाता है ।

4) **ज्ञानावरणीय कर्म का उदय :** अचानक ज्ञानावरणीय कर्म का तीव्र उदय हो जाय तो भी जैनदर्शन में निर्दिष्ट पदार्थों को समझना कठिन हो जाता है ।

मासतुष मुनि को अचानक ज्ञानावरणीय कर्म उदय में आया, जिसके फलस्वरूप `मा रूस' और `मा तुष' जैसे दो पदों को भी याद करना उनके लिए मुश्किल हो गया ।

5-6) **हेतु-उदाहरण के असंभव से :** जिनवचन के मर्म को समझने के लिए अनुकूल हेतु एवं उदाहरण की प्राप्ति न हो तो भी जिनवचन के मर्म को समझना कठिन हो जाता है ।

वीतरागी सत्यवादी

अपने पर किसी ने उपकार नहीं किया हो, फिर भी जो उपकार करने में तत्पर हैं, ऐसे राग-द्वेष और मोह के विजेता कभी असत्य नहीं बोलते हैं ।

सामान्यतया दुनिया में झूठ बोलने के मुख्य तीन कारण हैं ।

1) **राग :-** किसी व्यक्ति या वस्तु पर राग भाव हो तो उस वस्तु को पाने के लिए व्यक्ति झूठ बोलता है । धन आदि पर राग है, इसलिए धन के लिए व्यक्ति झूठ बोलता है ।

2) **द्वेष :-** किसी के प्रति द्वेष भाव हो तो उस व्यक्ति को गिराने के लिए व्यक्ति झूठ बोलता है । कोई चोर न हो, फिर भी उसके प्रति द्वेष भाव हो तो व्यक्ति उस पर चोरी का आरोप लगाने के लिए झूठ बोलता है ।

3) **मोह :-** अर्थात् भ्रम-अज्ञानता के कारण भी व्यक्ति झूठ बोलता है । परलोक का ज्ञान न हो तो मोह के कारण `परलोक है ही नहीं'-ऐसा झूठ बोल देता है ।

अरिहंत परमात्मा तो राग-द्वेष और मोह से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, अतः उन्हें झूठ बोलने का कोई प्रयोजन ही नहीं है । इतना ही नहीं वे तो अपकारी पर भी उपकार करने के उदार स्वभाव वाले हैं । सामनेवाले ने उपकार किया या अपकार किया-परंतु ये प्रभु तो सभी पर एकांत उपकार ही करनेवाले हैं-अतः उनके वचन पूर्ण सत्य होने से उन्हें पूर्ण श्रद्धा के साथ स्वीकार करना चाहिए ।

`अपने दिल में प्रभु के प्रति सच्ची श्रद्धा व आस्था है' यह तभी कहा जाएगा, जब हम प्रभु के वचनों को सत्यरूप में स्वीकार करेंगे ।

13 अपाय विचय धर्मध्यान

राग-द्वेष, कषाय और आस्त्रव की क्रिया करने से इसलोक और परलोक में जीवात्मा को कैसे अनर्थ होते हैं ? उसका ध्यान पापत्यागी आत्मा को करना चाहिए, उसे अपाय विचय धर्मध्यान कहते है ।

संसारवर्द्धक राग : राग तो महा भयंकर है । यह आत्मा के भवभ्रमण को बढ़ानेवाला है । भयंकर रोग से ग्रस्त व्यक्ति जब अपथ्य का सेवन करता है तो उसका रोग शांत होने के बजाय बढ़ता ही जाता है । बस, इसी प्रकार राग का सेवन भी आत्मा के संसार को ही बढ़ाता है ।

राग के मुख्य तीन भेद हैं-

(1) **काम राग -** पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय, अनुकूल शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के राग को काम राग कहते हैं ।

(2) **स्नेह राग -** पुत्र-पुत्री आदि कुटुंबीजनों पर रहे राग को स्नेहराग कहते हैं ।

(3) **दृष्टि राग -** मिथ्यामत-कुमत के राग को दृष्टिराग कहते हैं ।

द्वेष का दावानल : राग की भाँति द्वेष की आग भी कम खतरनाक नहीं है । द्वेष की आग दिल को जलाती रहती है ।

जिसके अन्तर्मन में द्वेष की आग सुलगी हुई है, वह इस जीवन में भी दु:खी होता है और परलोक में भी नरक आदि दुर्गति को प्राप्तकर महा दु:खी होता है ।

तीव्र द्वेष भाव के कारण ही अग्निशर्मा ने अपनी आत्मा का अनंत संसार खडा कर दिया था ।

कषायों का कटु परिणाम : रागद्वेष की तरह क्रोध-मान-माया और लोभ आदि चार कषाय भी आत्मा को भयंकर कड़वे परिणाम ही देनेवाले हैं ।

क्रोध से प्रीति का नाश होता है ।

मान से विनय का नाश होता है ।

माया से विश्वास का भंग होता है ।

लोभ से सभी गुणों का नाश होता है ।

इन क्रोध आदि कषायों ने आत्मा के भयंकर संसार को ही बढ़ाया है, अत: इनके अनर्थों को जानकर सदैव इनसे बचने के लिए ही प्रयत्नशील बनना चाहिए ।

आस्त्रव द्वार : मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये आत्मा में कर्मों के आगमन के पाँच आस्त्रव द्वार हैं । इन आस्त्रवों का सेवन करने से आत्मा कर्म के जाल में फँस जाती है । आस्त्रवों के अनर्थों का चिंतन कर इनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिए ।

मिथ्यात्व का उदय होने पर आत्मा सम्यक्त्व से भ्रष्ट बनती है । अविरति का उदय होने पर आत्मा विरति से मुक्त बनती है । प्रमाद के सेवन से आत्मा दुर्गतिगामी बनती है । कषायों के सेवन से आत्मा समता रहित बनती है ।

इन आस्त्रवों का सेवन ही आत्मा को पतन के गर्त में डुबोनेवाला है ।

14 विपाक विचय धर्मध्यान

आत्मा चार प्रकार से शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करती है । प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, प्रदेशबंध और रसबंध । भिन्न-भिन्न योग और कषायों से इन कर्मों का बंध होता है ।

इस धर्मध्यान में आत्मा पर लगने वाले आठ प्रकार के कर्मों और उन कर्मों के विपाक के बारे में चिंतन करना चाहिए ।

आत्मा में पैदा होने वाले राग-द्वेष के शुभ-अशुभ परिणामों के कारण आत्मा कर्म का बंध करती है ।

कर्मबंध के मुख्य चार हेतु हैं -

(1) **मिथ्यात्व :** जिनमत से विपरीत श्रद्धा अर्थात् मिथ्यात्व से आत्मा भयंकर अशुभ कर्म का बंध करती है ।

(2) **अविरति :** पाप के त्याग की प्रतिज्ञा के अभाव से आत्मा कर्म का बंध करती है ।

(3) **कषाय :** क्रोध आदि कषायों के सेवन से भी आत्मा भयंकर पाप कर्मों का बंध करती है ।

(4) **योग :** मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से भी आत्मा कर्म का बंध करती है ।

1. **प्रदेशबंध -** राग-द्वेष की प्रवृत्ति द्वारा आत्मा जब कर्म का बंध करती है, तब अत्यधिक प्रमाण में कर्म के पुद्गलों को ग्रहण करती है । कर्म के पुद्गलों के समूह को ही प्रदेशबंध कहते हैं । कम-से-कम आत्मा अनंत कर्म परमाणुओं को ग्रहण करती है ।
2. **प्रकृतिबंध -** आत्मा ने जिन कर्मपुद्गलों को ग्रहण किया, उसे ज्ञानावरणीय आदि आठ विभागों में बाँटती है । इस प्रकार उस उस कर्म में अलग-अलग फल देने का स्वभाव निश्चित होता है । उसी को प्रकृतिबंध कहते हैं ।
3. **स्थितिबंध -** बँधा हुआ कर्म आत्मा के साथ कब तक लगा रहेगा, उसके निर्णय को स्थिति बंध कहते हैं ।

4. **रसबंध -** आत्मा पर लगे हुए शुभ-अशुभ कर्म में तीव्र-मंद आदि फल देने का निर्णय उसे रस बंध कहते हैं ।

संसार के सभी जीव कर्म के आधीन है । कर्म ने आत्मा की खूब विडंबना ही की है ।

अजन्मा ऐसी आत्मा को इस संसार में जन्म धारण करना पड़ता है ।

अमरण स्वभाव वाली आत्मा को इस संसार में बेमौत मरना पड़ता है ।

अजर ऐसी आत्मा को इस संसार में बुढ़ापे की पीड़ा सहन करनी पड़ती है ।

सदा शाश्वत अव्याबाघ सुख का भोग करनेवाली आत्मा को अपना पेट भरने के लिए दर-दर भटकना पड़ता है ।

अरूपी ऐसी आत्मा को संसार में नित्य नए-नए रूप व आकार धारण करने पड़ते हैं ।

कर्म ने आत्मा की खूब बेहाली की है । कर्म के दुष्परिणामों का विचार आँख के सामने हो तो आत्मा नवीन कर्मों के बंध से अपने आपको बचा सकती है ।

15 संस्थान विचय धर्मध्यान

जिनेश्वर भगवंत ने धर्मास्तिकाय आदि का जो स्वरूप बताया है, उसके संबंध में चिंतन-मनन आदि करना संस्थान विचय नाम का धर्मध्यान है ।

संस्थान अर्थात् पदार्थों का समूह । विचय अर्थात् चिंतन ।

इस ध्यान में निम्नलिखित पदार्थों का चिंतन करना चाहिए-

1. **द्रव्य चिंतन :-** विश्व में रहे हुए छ द्रव्यों के संदर्भ में चिंतन करना चाहिए । जैसे-

(1) धर्मास्तिकाय :- द्रव्य चौदह राजलोक में व्याप्त है, जो जीव और पुद्गल- को गति करने में सहायता करता है ।

(2) अधर्मास्तिकाय :- द्रव्य भी चौदह राजलोक व्यापी है, जो जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में सहायता करता है ।

(3) आकाशास्तिकाय :- लोक और अलोक में व्याप्त है, जो पदार्थ को अवकाश प्रदान करता है ।

(4) पुद्गलास्तिकाय :- पूरण-गलन, इकट्ठा होना और नष्ट होना, जिसका स्वभाव है ।

(5) जीवास्तिकाय :- जीव-चैतन्य स्वरूप है ।

(6) काल :- जो नई वस्तु को पुरानी बनाता है । धर्मास्तिकाय आदि छह द्रव्यों के संदर्भ में निम्न बातों का विचार करना चाहिए–

1. **लक्षण :** इन छह द्रव्यों के भिन्न-भिन्न लक्षण हैं । ये सभी द्रव्य स्वतंत्र रूप से रहे हुए हैं । ये सभी द्रव्य एक-दूसरे में बदलते नहीं हैं । सभी द्रव्य हमेशा के लिए अपनी अपनी स्थिति में रहे हुए हैं और अपना अपना कार्य करते हैं ।

2. **संस्थान :** इन छह द्रव्यों के आकार के संबंध में चिंतन करना चाहिए । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोकाकाश प्रमाण हैं । यह लोकाकाश नीचे उलटी छाबड़ी की तरह है । मध्य में झालर की तरह है और ऊपर सीधे उलटे किए शराव की तरह है । जीव से जुड़े पुद्गल के छह भेद हैं । मनुष्य लोक में

सूर्य-चंद्र की गति के आधार पर काल द्रव्य है ।

3. **आसन :** छह द्रव्यों के आधार के बारे में सोचना चाहिए । छह द्रव्यों का आधार लोकाकाश है । व्यवहार से लोकाकाश क्षेत्र है और शेष पाँच द्रव्य क्षेत्री हैं । निश्चय से तो सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में रहे हुए हैं ।

4. **प्रकार :** इन छह द्रव्यों के भेद-प्रभेद के बारे में चिंतन करना चाहिए । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के स्कंध, देश और प्रदेश तीन-तीन भेद हैं और पुद्गलास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु ये चार भेद हैं । काल द्रव्य का एक ही भेद है । जीव द्रव्य के संसारी और मुक्त, त्रस और स्थावर आदि अनेक भेद हैं ।

5. **प्रमाण :** छह द्रव्यों के अस्तित्व को सिद्ध करनेवाले प्रमाण के बारे में सोचना चाहिए अथवा छह द्रव्यों के माप के बारे में चिंतन करना चाहिए ।

उदा. प्रत्येक जीव के असंख्य आत्मप्रदेश होते हैं, जो जीव के शरीर में समाविष्ट हो जाते हैं ।

6. **पर्याय :** पर्याय अर्थात् बदलती हुई अवस्था । गुण और पर्याय से जो युक्त हो, उसे द्रव्य कहते हैं, सभी द्रव्यों की पर्यायें बदलती रहती हैं । शरीरधारी जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के पर्याय तो प्रति समय बदलते ही रहते हैं ।

शाश्वत पदार्थों में भी वर्तमान काल की अपेक्षा से उत्पत्ति, भूतकाल की अपेक्षा से नाश और द्रव्य की अपेक्षा से उसकी ध्रुवता का विचार कर सकते हैं ।

पंचास्तिकाय स्वरूप लोक - जैन दर्शन की दृष्टि से इस जगत् का कोई निर्माता नहीं है । यह संसार प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनंत है । यह अनादि-अनंत जगत् पंचास्तिकाय स्वरूप है ।

जिस प्रकार मछली को तैरने के लिए जल सहायक द्रव्य है उसी प्रकार जीव व जड़ को गति करने में धर्मास्तिकाय द्रव्य सहायता करता है ।

जिस प्रकार पथिक को वृक्ष की छाया बैठने में मदद करती है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में अधर्मास्तिकाय द्रव्य मदद करता है ।

जिस प्रकार पानी को भरने के लिए घड़ा मदद करता है, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय को रहने में

आकाशास्तिकाय मदद करता है ।

जीव द्रव्य ज्ञानमय है, सभी भावों का ज्ञाता है, आनंदमय है, कर्म का कर्त्ता और कर्म का भोक्ता है ।

पुद्गल द्रव्य में शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श रहा हुआ है, पुद्गल द्रव्य मूर्त स्वरूप है । संयोग और वियोग पुद्गल में होता रहता है ।

इस पंचास्तिकाय से यह सारा जगत् भरा हुआ है । यह लोक आठ प्रकार का है । 1. नामलोक 2. स्थापनालोक 3. द्रव्यलोक 4. क्षेत्रलोक 5. काललोक 6. भवलोक 7. भावलोक 8. पर्याय लोक

क्षेत्रलोक चिंतन -

पृथ्वियाँ : यहाँ से नीचे 7 पृथ्वियाँ हैं, जिनमें 7 नरक हैं । पहली पृथ्वी 1,80,000 योजन मोटी है, फिर नीचे-नीचे की पृथ्वियों की मोटाई कम होती जाती है । लंबाई में वे नरक पृथ्वियाँ लोकाकाश का स्पर्श करके रही हुई हैं । 14 राजलोक के अग्रभाग में ईषत् प्राग्भारा नाम की पृथ्वी है, जो अनुत्तर विमान से 12 योजन ऊपर है । उसे सिद्ध शिला भी कहते हैं जो स्फटिक-रत्न से बनी हुई है । वह 45 लाख योजन लंबी चौड़ी है । वह बीच में आठ योजन मोटी और किनारे पर मक्खी के पंख के समान पतली है ।

वलय : घनोदधि, घनवात और तनुवात के वलय पृथ्वी के नीचे पास में वलयाकार रहे हुए हैं । नीचे 7 पृथ्वियों के 3-3 वलय हैं ।

द्वीप : मध्यलोक के मध्य में 1 लाख योजन लंबा-चौड़ा जंबुद्वीप रहा हुआ है । उसके चारों ओर चूड़ी के आकार का दो लाख योजन के विस्तारवाला लवण समुद्र है । उसके चारों ओर चार लाख योजन विस्तृत द्यातकी खंड है, एक द्वीप, एक समुद्र इस प्रकार कुल असंख्य द्वीप-असंख्य समुद्र हैं । सभी के अंत में स्वयंभूरमण द्वीप और स्वयंभूरमण समुद्र है ।

सिर्फ ढाई द्वीप में मनुष्य रहे हुए हैं । ढाई द्वीप में 5 भरत, 5 ऐरावत और 5 महाविदेह-इस प्रकार 15 कर्मभूमियाँ हैं ।

समुद्र : हर द्वीप के चारों ओर वलयाकार समुद्र रहा हुआ है-जो पूर्व के द्वीप से दुगुने व्यास वाला है ।

नरक : 7 नरकावास में नारकी जीव रहे हुए हैं । पहली नरकभूमि में

13 प्रतर हैं । सात नरकों में 84 लाख नरकावास हैं ।

विमान : मध्यलोक में सूर्य चंद्र के असंख्य विमान हैं । पहले देवलोक में 32 लाख, दूसरे में 28 लाख , तीसरे में 12 लाख, चौथे में 8 लाख, पांचवें में 4 लाख विमान हैं, इस प्रकार कुल 8497023 विमान हैं । सर्वार्थसिद्ध विमान 1 लाख योजन तथा शेष असंख्य योजन के विस्तार वाले हैं ।

भवन : भवनपति देवताओं के रहने के स्थान भवन कहलाते हैं । कुल 7 करोड़ 72 लाख भवन है ।

नगर : व्यंतर देवों के रहने के लिए असंख्य नगर हैं । इस प्रकार जगत् के स्वरूप का चिंतन करने से ध्यान में स्थिरता प्राप्त होती है ।

आत्म द्रव्य का चिंतन

आत्मा-जीवद्रव्य उपयोग लक्षणवाला है । कर्म का कर्ता और भोक्ता है । आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए छह मुद्दे हैं-

लक्षण : वस्तु के स्वरूप की पहिचान उसके लक्षण द्वारा होती है । उपयोग यह आत्मा का लक्षण है । उपयोग के दो प्रकार हैं-

(1) साकार उपयोग, (2) निराकार उपयोग

1. साकार उपयोग अर्थात् ज्ञानोपयोग । इसके आठ भेद हैं-मतिज्ञान, श्रुतज्ञान अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंग ज्ञान ।

2. निराकार उपयोग अर्थात् दर्शनोपयोग इसके चार भेद हैं- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन ।

आत्मा शाश्वत है : इस संसार में आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रारंभ काल नहीं है और न ही अंतकाल है अर्थात् इस संसार में आत्मा अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहेगी ।

आत्मा शरीर से भिन्न है : संसार में आत्मा स्वतंत्र रूप से नहीं रहती है । वह शरीर के भीतर ही रहती है । शरीर के भीतर रहती हुई आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है । अर्थात् शरीर अलग है, आत्मा अलग है ।

आत्मा अरूपी है : शरीर रूपी है, परंतु शरीर के भीतर रही हुई

आत्मा अरूपी है । चर्म चक्षु द्वारा उसे प्रत्यक्ष देखा नहीं जा सकता है । फिर भी उसका अनुभव किया जा सकता है । आत्मा अरूपी होने से सिद्ध शिला पर एक ही जगह में अनंत आत्माएँ भी एक साथ में एक दूसरे को पीडा पहुँचाए बिना रह सकती हैं ।

आत्मा कर्म की कर्ता है : मिथ्यात्व, अविरति आदि कर्म के बंध के हेतुओं के द्वारा आत्मा ही कर्म का बंध करती है । जब तक कर्म-बंध के हेतुओं का सेवन चालू रहेगा, तब तक आत्मा पर कर्म का बंध चालू ही रहेगा ।

आत्मा कर्म की भोक्ता है : आत्मा ने ही कर्मों का बंध किया है, तो उन कर्मों की सजा भी आत्मा ही भोगती है । कर्म का बंध दूसरा कोई करे और उसकी सजा अन्य किसी को हो, यह कदापि संभव नहीं है । आत्मा और कर्म के इस स्वरूप का चिंतन किया जाय तो नवीन कर्मों के बंध से अपनी आत्मा को बचाया जा सकता है ।

संसार सागर है

भव के बंधन से मुक्त होने के लिए तारक परमात्मा ने धर्मध्यान की आराधना-साधना बताई है । संसार से मुक्त होना हो तो संसार से विरक्ति जरूरी है । उस विरक्ति को पाने के लिए संसार के रौद्र स्वरूप को जानना-समझना जरूरी है ।

ध्यान शतक ग्रंथ के कर्ता ने धर्मध्यान के स्वरूप का वर्णन करते समय **'संस्थान विचय'** नाम के चौथे धर्मध्यान में संसार के भयंकर स्वरूप का भी वर्णन किया है ।

इस भव-संसार को सागर की उपमा दी है ।

1. सागर जल से भरा होता है, इस संसार सागर में जन्म-जरा और मृत्यु का पानी रहा हुआ है ।
2. सागर में पाताल तक पानी रहा हुआ है-संसार सागर का पाताल कषाय है ।
3. सागर में भयंकर जलचर प्राणी होते हैं-संसार सागर में आपत्ति, दु:ख-चिंता रूप अनेक जलचर प्राणी हैं ।
4. समुद्र में भयंकर आवर्त होते हैं । संसार सागर में मोह के आवर्त हैं । मोह के आवर्त में फँसी आत्मा को बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है ।

संसार में जीवात्मा को कहीं भी शांति नहीं होती है ।

यह संसार सागर अनादि अनंत है । अनादि काल से मोक्ष और मोक्षमार्ग चालू होने पर भी यह संसार जीवों से कभी खाली होनेवाला नहीं है ।

यह संसार स्वभाव से ही भयंकर है । इस संसार सागर में संयोग और वियोग रूपी तरंगें उछल रही हैं । यह संसार अशुभ तत्त्वों से ही भरा हुआ है । शुभ तत्त्व नहींवत् है, जबकि अशुभ तत्त्वों की हारमाला है ।

चारित्र रूपी जहाज

सागर से पार उतरने के लिए जहाज चाहिए, उसी प्रकार संसार सागर को पार उतरने के लिए चारित्ररूपी जहाज है । इस जहाज का आलंबन लेकर अनंतानंत आत्माओं ने संसार सागर को पार किया है ।

(1) जहाज मजबूत चाहिए । मजबूत बंधनवाला जहाज ही सागर के थपेड़ों को सहन कर सकता है । चारित्ररूपी वाहन के लिए सम्यग्दर्शन दृढ़ बंधन है ।

(2) जहाज में विस्फोटक पदार्थ नहीं चाहिए । चारित्र रूपी जहाज में पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय और अप्रशस्त कषाय का कचरा नहीं होता है ।

(3) कप्तान होशियार चाहिए । चारित्र रूपी जहाज के कप्तान गीतार्थ-ज्ञानी गुरु भगवंत होते हैं ।

(4) जहाज में छिद्र नहीं चाहिए । चारित्र रूपी जहाज में आस्रव रूप छिद्रों को संवर से ढंक दिया जाता है ।

(5) जहाज को अनुकूल पवन चाहिए । चारित्र रूपी जहाज के लिए बाह्य और अभ्यंतर तप अनुकूल पवन समान है ।

(6) जहाज का मार्ग निर्णीत होता है । चारित्र के जहाज का लक्ष्य मोक्षनगर तक पहुँचना होता है । राग संसार का मार्ग है । वैराग्य संयम का मार्ग है ।

(7) भयंकर तरंगों के बीच भी जहाज स्थिर होना जरूरी है । चारित्ररूपी जहाज के लिए शुभ विचार और शुभ आचार मजबूत किले के समान है ।

(8) जहाज में रत्न भरे होते हैं, उसी प्रकार चारित्ररूपी जहाज में 18000 शीलांग रत्न भरे हुए हैं ।

संस्थान विचयरूप इस धर्मध्यान में संयम रूपी जहाज का सतत चिंतन करने से आत्मा धर्मध्यान में स्थिरता प्राप्त कर सकती है ।

मोक्ष का स्वरूप

निर्मल चारित्र धर्म की आराधना का अंतिम फल तो मोक्ष ही है । मोक्ष में ऐकांतिक, बाधारहित, स्वाभाविक, अनुपम और अक्षय सुख रहा हुआ है ।

यह संसार अनंत दु:खों से भरा हुआ है । जहाँ दु:ख का पार नहीं है और सुख का नामो निशान नहीं है । जब कि मोक्ष अनंत सुख का धाम है, जहाँ सुख का पार नहीं है और दु:ख का नामोनिशान नहीं है ।

मोक्ष में ऐकांतिक सुख है अर्थात् दु:ख का अंश मात्र भी नहीं है ।

मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्था रूप है । जीव का सहज स्वरूप मोक्ष में रहा हुआ है ।

नमुत्थुणं सूत्र में मोक्ष के 7 विशेषण बतलाए हैं–

(1) **शिव :** मोक्ष कल्याणकारी है ।

(2) **अचल :** मोक्ष का स्थान सदा के लिए अचल है और वहाँ रहे हुए सिद्ध भगवंतों को कभी भी विचलित होने का नहीं है ।

(3) **अरुज :** सिद्ध भगवंत आत्मा के कर्म के रोग से सर्वथा रहित हैं ।

(4) **अनंत :** मोक्ष में जाने के बाद वहाँ अनंत काल तक रहने का है ।

(5) **अक्षय :** मोक्ष का सुख कभी भी क्षय (नाश) पानेवाला नहीं है ।

(6) **अव्याबाध :** मोक्ष का सुख सर्वथा पीड़ा रहित है ।

(7) **अपुनरावृत्ति :** एक बार मोक्ष में जाने के बाद पुन: कभी संसार में लौटने का नहीं है ।

मोक्ष के इस स्वरूप को जानकर उसे पाने के लिए सदैव उद्यमशील बनना चाहिए ।

उपसंहार

संस्थान विचय नाम के धर्मध्यान में विस्तार से जीव आदि पदार्थों का सभी नयों से ध्यान करना चाहिए । जैन दर्शन में जीव आदि पदार्थों का सिर्फ एक ही नय से चिंतन नहीं किया गया है । सभी नयों से जैन दर्शन में पदार्थों का वर्णन है ।

धर्मध्यान के 10 भेद–

'सन्मति तर्क' ग्रंथ में धर्म ध्यान के 10 भेद भी बतलाए हैं–

1. **आज्ञा विचय :** बुद्धि की मंदता के कारण आत्मा, कर्म, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों को समझना हमारे जैसे के लिए कठिन है । फिर भी अनंतज्ञानी अरिहंत परमात्मा के वचनों पर श्रद्धा रखकर उन पदार्थों का बोध प्राप्त कर सकते हैं । प्रभु के वचन पूर्ण सत्य हैं । अतः उनकी आज्ञाओं का पालन भी आत्मा के लिए एकांत हितकर है । प्रभु आज्ञा की महानता का चिंतन आज्ञा विचय धर्मध्यान है ।
2. **अपाय विचय :** प्रभु का शासन मुझे प्राप्त हुआ है तो अब मन, वचन और काया की दुष्ट प्रवृत्तियों का आचरण कर अपनी आत्मा को पतन के गर्त में क्यों डालूँ ।
3. **विपाक विचय :** शुभ-अशुभ कर्म के फल का चिंतन करना, शुभ कर्म के फलस्वरूप तीर्थंकर का वैभव प्राप्त होता है, तो अशुभ कर्म के फल-स्वरूप नरक आदि दुर्गति की प्राप्ति होती है ।
4. **संस्थान विचय :** चौदह राजलोक स्वरूप समग्र विश्व का चिंतन करना । अधोलोक में सात नरक हैं, जहाँ परमाधामी आदि कृत घोर वेदनाएँ हैं । मध्यलोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं तथा ऊर्ध्व लोक में देव-विमान आदि हैं । इस प्रकार जगत् की स्थिति का विचार करना ।
5. **जीव विचय :** जीव के स्वरूप का चिंतन करना । प्रत्येक आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश हैं । आत्मा साकार और अनाकार उपयोग लक्षण स्वरूप है । अपने ही किये हुए कर्मों के फल को भोगनेवाली यह आत्मा है ।
6. **अजीव विचय :** धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय रूप अजीव तत्त्व के स्वरूप का चिंतन करना ।
7. **वैराग्य विचय :** शुक्र और रक्त से निर्मित यह शरीर अत्यंत ही अशुचि से भरा हुआ है । इस शरीर में से सतत अशुचि का प्रवाह बह रहा है । इसमें कुछ भी डालो, उसे यह शरीर अशुचि में ही बदलता है । यह शरीर नाशवंत है इस शरीर को बचाने में कोई समर्थ नहीं है ।
8. **विरति विचय :** शब्द आदि विषयों के भोग का परिणाम किंपाक के फल की भाँति अत्यंत ही कटु है । संसार के सुख अत्यंत ही क्षणभंगुर, पराधीन और निंदनीय हैं । अतः उन सुखों में विश्वास करने योग्य नहीं है । विवेकी पुरुषों के लिए तो विरति ही श्रेयस्कारी है ।

9. **उपाय विचय :** मेरी आत्मा को मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्तियों में जोडूँ ताकि मेरी आत्मा का शीघ्र कल्याण हो ।

10. **हेतु विचय :** आगम में कहे हुए पदार्थों पर विवाद खड़ा हो तब कष, छेद और ताप की परीक्षा पूर्वक स्याद्वाद प्ररूपक आगमों का आश्रय करना चाहिए ।

उपर्युक्त दस प्रकार से चिंतन सर्वनय से करना चाहिए-परंतु एक नय से नहीं । क्योंकि किसी एक ही नय का आश्रय करने से एकांत आ जाता है ।

धर्मध्यान के अधिकारी

सभी प्रकार के प्रमाद से रहित मुनि, जिनका मोह क्षीण या उपशांत हुआ है, ऐसे क्षपक व उपशामक मुनि तथा अन्य भी ज्ञानरूपी धनवाले इस धर्मध्यान के अधिकारी हैं ।

हर कोई व्यक्ति धर्मध्यान नहीं कर सकता है-उसके लिए भी योग्यता-पात्रता चाहिए ।

1. **अप्रमत्तयोगी :** जो आत्मा अप्रमत्त नाम के 7वें गुणस्थानक में रही हुई है । पाँच प्रकार के प्रमाद से रहित है, ऐसे महात्मा धर्मध्यान के सच्चे अधिकारी हैं ।

2. **उपशांत मोहवाली आत्मा :** जिस आत्मा ने मोहनीय कर्म की उपशमना की हो अर्थात् मोहनीय कर्म को उपशांत कर दिया हो, ऐसी आत्मा धर्मध्यान की अधिकारी है ।

3. **क्षीणमोह :** मोहनीय कर्म का क्षय कर रहे आठवें-नौवें और दसवें गुणस्थानक में रही हुई आत्मा धर्मध्यान की अधिकारी है ।

निश्चय नय से तो धर्मध्यान के सच्चे अधिकारी सातवें अप्रमत्त गुणस्थानक से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानकवर्ती जीव ही हैं ।

व्यवहार नय से भी प्रधानरूप से तात्त्विक धर्मध्यान के अधिकारी 7वें से 12वें गुणस्थानकवर्ती ही हैं, जब कि गौणरूप से प्रमाद दशा से युक्त देशविरतिधर और सर्वविरतिधर भी हैं ।

अप्रमत्त आदि गुणस्थानकों में सालंबन व निरालंबन ध्यान दोनों संभव हैं, जब कि प्रमाद दशा में सालंबन ध्यान ही संभव है, निरालंबन नहीं ।

अप्रमत्तयोगी ही शुक्लध्यान के पहले दो भेद के ध्यान के अधिकारी हैं, परंतु वे योगी पूर्वधर और वज्रऋषभनाराच संघयणवाले होने चाहिए । शेष शुक्लध्यान के अधिकारी सयोगी और अयोगी केवली हैं ।

प्रश्न :- माषतुष मुनि और मरुदेवा माता चौदह पूर्वधर नहीं थे तो फिर उन्हें शुक्लध्यान कैसे घटेगा ?

उत्तर :- माषतुष आदि मुनि पूर्वों के ज्ञाता नहीं थे, अतः उन्हें यह शुक्लध्यान सातवें गुणस्थानक में नहीं, बल्कि उसके ऊपर के गुणस्थानकों में था । कषायों की मंदता और सामर्थ्य योग के कारण उन्हें ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो जाने से भले ही वे सूत्र से पूर्वधर नहीं बने, परंतु पूर्व में रहे शास्त्रों के सूक्ष्म पदार्थ का बोध तो उन्हें सातवें से ऊपर के गुणस्थानकों में हो ही जाता है । पूर्वधर विशेषण अप्रमादी के साथ ही जोड़ने का है अर्थात् अप्रमादी पूर्वधर को ही दो शुक्लध्यान होते हैं । अप्रमादी हो, परंतु पूर्वो के ज्ञाता न हो तो वे धर्मध्यान कर सकते हैं, शुक्लध्यान नहीं ।

क्षपक व उपशामक निर्ग्रंथ पूर्वधर न हों तो भी शुक्लध्यान कर सकते हैं ।

बारह भावनाओं का स्वरूप

छद्मस्थ को दो घड़ी से अधिक ध्यान स्थिर नहीं रहता है । अतः ध्यान से विराम पाने के बाद मुनि अनित्य आदि बारह भावनाओं में लीन रहता है ।

धर्मध्यान पूरा होने पर अपनी आत्मा को अनित्य आदि भावनाओं से भावित करना चाहिए ।

1. **अनित्य भावना :** संसार की सभी सामग्री अनित्य अर्थात् नाशवंत है । पत्नी, पुत्र, माता, पिता, भाई-बहन आदि के जो संबंध हुए हैं, वे भी एक दिन नष्ट हो जानेवाले हैं ।

   संसार के भौतिक सुख भी अनित्य हैं । यह शरीर, यौवन, आयुष्य आदि सभी नाशवंत हैं । ऐसे नाशवंत पदार्थों पर क्यों राग करना ?

2. **अशरण भावना :** इस संसार में सभी जीव जन्म, जरा और मृत्यु के आधीन हैं । कितना भी धन क्यों न हो ! कितना ही विशाल साम्राज्य क्यों न हो, इस दुनिया में व्यक्ति को मौत से बचाने में कोई समर्थ नहीं है । चक्रवर्ती एवं इन्द्र जैसे को भी सब कुछ छोड़कर अकेले ही जाना

पड़ता है ।

आत्मा के लिए एक मात्र जिन धर्म ही शरणभूत है ।

3. **एकत्व भावना :** संसार में रहे हुए पदार्थों के प्रति जो ममत्व भाव रहा हुआ है-उस ममत्वभाव को तोड़ने के लिए एकत्व भावना करनी चाहिए । इस संसार में मैं अकेला हूँ, अकेला ही आया हूँ और अकेले ही जानेवाला हूँ । इस दुनिया से जब विदाई लूंगा, तब मेरे साथ में कुछ भी चलने वाला नहीं है ।

4. **अन्यत्व भावना :** पानी में रहा तेल का बिंदु पानी से अलग ही रहता है । इसी प्रकार मैं स्वजन-परिवार तथा शरीर से भी अलग हूँ । तलवार म्यान में रहती है, परंतु तलवार म्यान से अलग ही है । इसी प्रकार संसार में आत्मा शरीर में रहती है-फिर भी उससे सर्वथा भिन्न ही है ।

5. **अशुचि भावना :** हर प्राणी को अपने शरीर के प्रति खूब गाढ़ राग भाव होता है । उस राग भाव को तोड़ने के लिए अशुचि भावना से अपने मन को भावित करना चाहिए । यह शरीर तो अशुचि का भंडार है । इसको चाहे जितना नहलाया जाय, स्वच्छ किया जाय परंतु यह अपने अशुचिपने के स्वभाव को छोड़नेवाला नहीं है ।

6. **संसार भावना :** यह संसार स्वार्थ से भरा हुआ है । जब तक स्वार्थ सिद्ध होता है, तब तक संसार में संबंध बना रहता है ।

संसार की विचित्रता है-भव बदलने के साथ इस जीवन के संबंध भी बदल जाते हैं । माता पत्नी बन जाती है । पत्नी माता और बहन बन जाती है । पिता मरकर पुत्र बन जाते हैं । अतः इन संबंधों पर ममत्व भाव रखने जैसा नहीं है ।

7. **आस्त्रव भावना :** आस्त्रव अर्थात् आत्मा में कर्म के आने के द्वार । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के माध्यम से आत्मा में कर्मों का आगमन होता है । आस्त्रव द्वार जब तक बंद नहीं होंगे, तब तक आत्मा में कर्मों का आगमन चालू ही रहेगा ।

8. **संवर भावना :** आत्मा में कर्म के आगमन के द्वार को बंद करना, उसी का नाम संवर है । संवर के कुल 57 भेद हैं । घर का द्वार खुला होगा तो कोई भी व्यक्ति अंदर आ सकेगा । द्वार बंद होगा तो आगमन रुक

सकेगा । आत्मा में कर्मों के आगमन को रोकने के लिए संवर का आचरण अनिवार्य है ।

9. **निर्जरा भावना :** आत्मा पर लगे हुए कर्मों का आत्मा पर से अलग हो जाना, उसी का नाम निर्जरा है । इस निर्जरा के बारह भेद हैं । बाह्य और अभ्यंतर स्वरूप बारह प्रकार के तप निर्जरा स्वरूप ही हैं । इस निर्जरा के सेवन से आत्मा, अपने ऊपर लगे कर्म रूपी कचरे से मुक्त होकर एकदम पवित्र बनती है ।

10. **लोक स्वरूप भावना :** इस भावना द्वारा चौदह राजलोक स्वरूप संपूर्ण विश्व का चिंतन किया जाता है । यह विश्व सात राजलोक नीचे है-जो अधोलोक कहलाता है और 7 राजलोक ऊपर है, जो ऊर्ध्व लोक कहलाता है । मध्य में यह विश्व एक राजलोक के विस्तार वाला है, जिसमें असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र आए हुए हैं ।

11. **धर्म स्वाख्यात भावना :** तीर्थंकर परमात्मा ने जगत् के जीवों के हित के लिए श्रेष्ठ धर्म बतलाया है । जिस धर्म की उपासना कर आज तक अनंत आत्माओं ने संसार सागर को पार किया है ।

12. **बोधिदुर्लभ भावना :** इस संसार में जीवात्मा को सम्यक्त्व की प्राप्ति होना, अत्यंत ही दुर्लभ है । संसारी जीव को अन्य सब कुछ प्राप्त होना सुलभ है, परंतु सम्यक्त्व की प्राप्ति होना अत्यंत ही दुर्लभ है ।

बोधि की दुर्लभता समझकर बोधि की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्न करना चाहिए ।

उपर्युक्त बारह भावनाओं के चिंतन से चित्त शांत बनता है । मन में उठनेवाले संकल्प, विकल्प शांत हो जाते हैं । भावनाओं से भावित चित्तवाला पुनः ध्यान में स्थिर बन सकता है ।

लेश्या

लेश्या अर्थात् मन की विचारधारा । धर्मध्यान में क्रमशः बढती हुई तीव्र, मंद और मध्यम प्रकार की पीत लेश्या-पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या होती हैं ।

स्फटिक स्वयं स्वच्छ और पारदर्शी होता है । उसके पास में जिस रंग का कागज, कपड़ा या वस्तु रखी जाती है, स्फटिक भी उसी रंगमय बन जाता है ।

उसी प्रकार आत्मा भी स्फटिक के समान निर्मल है, आत्मा जब शुभ-अशुभ द्रव्यों का चिंतन करती है, तब स्वयं तद् रूप बन जाती है। शुभ द्रव्य-शुभ विचारों से आत्मा शुद्ध तेजोमय बनती है तो अशुभ विचारों से आत्मा अशुद्ध बन जाती है।

धर्मध्यान शुभ वस्तु है, अतः उसमें शुभ लेश्या होती है। सभी धर्मध्यानी को एक समान एक ही लेश्या होती है, ऐसा नहीं है। ध्यान की कक्षा के भेद से लेश्याओं में भी तरतमता होती है।

पीत लेश्या मंद प्रकार की है। पद्म लेश्या मध्यम प्रकार की और शुक्ल लेश्या उत्तम प्रकार की होती है।

धर्मध्यानी को इन तीनों में से कोई भी एक शुभलेश्या तीव्र या मंद परिणामवाली होती है।

कुशलानुबंधी अनुष्ठान की आराधना में लीन साधक धर्मध्यान की आराधना और शुभ लेश्या के द्वारा शीघ्र ही संसार सागर से पार उतर जाता है।

धर्मध्यान की पहिचान

धर्मध्यान है या नहीं, उसकी पहिचान के लिए कुछ चिह्न बताए गए हैं। उन चिह्न, लक्षणों के आधार पर धर्मध्यान के अस्तित्व का अनुमान कर सकते हैं।

जिनवचन पर श्रद्धा- जिनेश्वर भगवंत के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा करना, धर्मध्यान का चिह्न है। यह श्रद्धा निम्न निमित्तों से हो सकती है-

(1) **आगम स्वाध्याय :** जिनेश्वर भगवंत के द्वारा निर्दिष्ट आगमों का अभ्यास करते-करते उन पर तीव्र श्रद्धा पैदा हो जाय। उदा. गोविंदाचार्य। गोविंदाचार्य ने जैन मत के खंडन के ध्येय से भागवती-दीक्षा ली थी परंतु आगमों का अभ्यास करते करते उन्हें जैन मत पर पूर्ण अहो भाव पैदा हो गया।

(2) **उपदेश :** आगम पढ़ने का अधिकार सभी को नहीं है। आगम के मर्म को समझना, स्वतः समझना अत्यंत ही कठिन है। परंतु गुरु भगवंत के मुख से जिनवाणी का श्रवण करते करते जिनवचन पर पूर्ण श्रद्धा पैदा हो जाय।

(3) **आज्ञा :** जिनेश्वर के वचन पूर्ण सत्य हैं। उसमें कहीं भी परस्पर

विसंवाद नहीं है । ये वचन त्रिकाल अबाधित हैं । इस प्रकार जिनेश्वर की आज्ञा का विचार करते करते उन पर पूर्ण श्रद्धा पैदा हो जाय ।

(4) **निसर्ग :** किसी विरल आत्मा को मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो जाने से स्वाभाविक ही जिनेश्वर कथित वचनों पर पूर्ण श्रद्धा पैदा हो जाती है ।

उपर्युक्त चार कारणों में से किसी भी निमित्त को पाकर जिनवचन में जो श्रद्धा होती है, वह भी धर्मध्यान का ज्ञापक चिह्न है अर्थात् धर्मध्यान सम्यग् दृष्टि को ही होता है, मिथ्यादृष्टि को कदापि नहीं ।

1. **जिन-साधु गुण कीर्तन -** धर्मध्यान में रही आत्मा जिनेश्वर भगवंत और उनके बताए हुए मार्ग पर चलने वाले साधुओं के गुणों का कीर्तन करती है अर्थात् उनके गुणों का सम्मान करती है ।

2. **जिन-साधु गुण प्रशंसा -** हृदय में आदर-बहुमानभाव हो तो व्यक्ति प्रशंसा किए बिना नहीं रहता है । धर्मध्यानी जिनेश्वर भगवंत के महान गुणों की तथा जिनेश्वर भगवंत के मार्ग पर चलनेवाले महामुनियों के त्याग-तप-तितिक्षा आदि श्रेष्ठ गुणों की भरपेट प्रशंसा करता रहता है ।

3. **देव-गुरु का विनय -** धर्मध्यान में लीन आत्मा देव और गुरु का आदर बहुमानपूर्वक अवश्य विनय करता है ।

4. **दान वृत्ति -** धन को असार और तुच्छ मानने वाला ही दान दे सकता है । धर्मध्यान में लीन साधक धन के प्रति ममत्व बुद्धिवाला नहीं होता है । बल्कि प्रसंगानुसार दान किए बिना नहीं रहता है ।

5. **श्रुत-संयम और शील से युक्त -** धर्मध्यान में लीन बनी आत्मा श्रुत के अभ्यास में सदैव उद्यमशील होती है । निरतिचार संयम के पालन में प्रयत्नशील होती है तथा व्रत-नियम आदि शील का सदैव पालन करती है ।

उपर्युक्त लक्षणों से ख्याल आता है कि धर्मध्यान की प्राप्ति सरल नहीं है । मुख्यतया तो अप्रमत्त साधक ही इस धर्मध्यान के अधिकारी हैं । गौणरूप से प्रमत्त मुनि को भी होता है ।

समकिती और देशविरतिधर को भी कुछ अंश में धर्मध्यान हो सकता है ।

16 चौथा-शुक्लध्यान

शुक्ल ध्यान की प्राप्ति के लिए धर्मध्यान जरूरी है । धर्मध्यान में लीन आत्मा ही भविष्य में शुक्ल ध्यान प्राप्त कर सकती है ।

केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए अर्थात् घाती कर्मों का क्षय करने के लिए शुक्ल ध्यान जरूरी है । मोक्ष की प्राप्ति भी शुक्ल ध्यान के अंतिम चरण की प्राप्ति से ही होती है । शुक्ल ध्यान अर्थात् स्फटिक की भाँति अत्यंत ही निर्मल ध्यान ।

धर्मध्यान की भाँति शुक्ल ध्यान के भी भावना से लेकर फल तक 12 द्वार हैं-उसमें भावना, देश, काल और आसन द्वार धर्मध्यान के समान ही हैं । अतः उनका पुनःविचार करने की आवश्यकता नहीं है ।

शुक्लध्यान के लिए आलंबन

शुक्ल ध्यान के लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति ये चार आलंबन हैं ।

1. **क्षमा :** क्रोध दावानल के समान है तो क्षमा पुष्करावर्त मेघ के समान है । क्रोध के कारण आत्मा के भवभ्रमण की परंपरा खूब-खूब बढ़ी है । उस भव परंपरा को तोड़ने के लिए क्षमा का आलंबन खूब-खूब जरूरी है ।

   क्रोध के परिणाम अत्यंत ही कटु हैं । क्रोध से शरीर में रहा खून गर्म हो जाता है । क्रोध से हार्ट अटेक, बी.पी. तथा अजीर्ण आदि रोग भी पैदा होते हैं । क्रोध से व्यवहार के संबंध भी बिगड़ जाते हैं । शुक्ल ध्यान के लिए क्रोध से सदैव दूर ही रहना चाहिए ।

2. **नम्रता :** अभिमान तो पतन की सीढ़ी है । जिस वस्तु का हम अभिमान करते हैं, भविष्य में वही वस्तु अत्यंत ही दुर्लभ बन जाती है ।

   अपनी आत्मा को समझाएँ-**'किसी भी प्राप्त वस्तु का अभिमान करने जैसा नहीं है ।'** अपने ज्ञान का अभिमान करने जैसा नहीं है । क्योंकि चौदह पूर्वी के ज्ञान के आगे अपना ज्ञान तो अंश मात्र भी नहीं है ।

   धन का भी अभिमान करने जैसा नहीं है । चक्रवर्ती की भौतिक संपत्ति

के आगे अपनी संपत्ति तो नाम मात्र ही है । दुनिया में जो कुछ भी अनुकूल सामग्री पुण्य के उदय से प्राप्त होती है, वह मर्यादित समय के लिए ही है । पुण्य का उदय समाप्त होते ही संसारी जीव की हालत कंगाल जैसी बन जाती है । अत: किसी भी वस्तु का अभिमान न करें ।

3. **सरलता :** माया तो संसार की माता है । माया का आचरण करके आत्मा ने अपना संसार ही बढ़ाया है ।

माया के सेवन से आत्मा सम्यक्त्व से भी भ्रष्ट बनती है । माया से विश्वास का भंग हो जाता है । माया के आचरण से आत्मा स्त्री वेद का बंध करती है ।

4. **मुक्ति** अर्थात् लोभ का अभाव । मन में संतोष भाव धारण करना ।

क्रोध आदि से तो 1-1 गुण का नाश होता है, जब कि लोभ तो सर्वगुणों का नाश करनेवाला है ।

जिसप्रकार जल से सागर और ईंधन से अग्नि तृप्त नहीं होती हैं, उसी प्रकार धन आदि के लोभ से आत्मा कभी तृप्त नहीं होती है । चाहे जितना धन मिल जाय, आत्मा को कभी तृप्ति होनेवाली नहीं है । इच्छाएँ तो आकाश के समान अनंत हैं, अत: उनका कभी अंत आनेवाला नहीं है ।

क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों के उदय को निष्फल बनाने वाला ही अपने जीवन में क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष आदि गुणों को आत्मसात् कर सकता है । क्षमा आदि में स्थिर रहनेवाला ही शुक्ल ध्यान पर आरूढ़ होने में समर्थ बनता है ।

शुक्ल ध्यान का क्रम

छद्मस्थ आत्मा त्रिभुवन के विषय में से मन को संकुचित कर उसे अणु में स्थापित करे । अंत में निष्प्रकंप बनी आत्मा मनरहित-वीतराग बनती है । शुक्ल ध्यान में मन को जीतने का होता है । ज्यों-ज्यों ध्यान मार्ग में आगे बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों निश्चलता-स्थिरता प्राप्त होती जाती है ।

मन का चिंतन भी त्रिभुवन से संकुचित होकर धीरे-धीरे घटता हुआ एक परमाणु पर स्थिर हो जाता है ।

ऊर्ध्व, अधो और तिर्च्छालोक ये तीन लोक हैं। धीरे धीरे ध्यान द्वारा मन तिर्च्छालोक में, फिर मनुष्य लोक में स्थिर होता है-उसके बाद जंबुद्वीप-भरत क्षेत्र-भरत क्षेत्र का मध्य खंड आदि होते होते एक परमाणु पर मन स्थिर व शांत बनता है। उस अपूर्व स्थिरता से आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करती है।

शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकार में यह क्रम रहता है। केवलज्ञानी को मनोयोग की आवश्यकता नहीं रहती है, फिर भी केवली तीर्थंकर परमात्मा अनुत्तरदेव विमानवासी देवताओं के मन में रही शंकाओं के समाधान के लिए अपने मनोयोग का उपयोग करते हैं।

केवली भगवंत को मोक्ष पाने में सिर्फ पाँच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण मात्र काल ही बाकी हो तब वे शैलेशी अवस्था प्राप्त करते हैं उस शैलेशी अवस्था की प्राप्ति के पूर्व अन्तर्मुहूर्त काल में शुक्लध्यान के तीसरे भेद का ध्यान करते हैं और वे मनरहित बन जाते हैं-उसके बाद वचन योग और काययोग का भी निरोध कर देते हैं। उस शैलेशी अवस्था में शुक्लध्यान के चौथे प्रकार **'व्युपरत क्रिया निवृत्ति'** का ध्यान करते हैं।

अर्थात् तीसरे प्रकार का ध्यान शैलेशी के पूर्व एक अन्तर्मुहूर्त में और चौथे प्रकार का ध्यान शैलेशी अवस्था में करते हैं।

मन:संकोच के दृष्टांत

1. **विष संकोच दृष्टांत :** सर्पदंश के बाद साँप का जहर पूरे शरीर में फैल जाता है। उस समय गारुड़िक, मांत्रिक मंत्र द्वारा शरीरव्यापी जहर को डंक के स्थान पर ला देता है, फिर प्रयोग द्वारा उस जहर को दूर कर व्यक्ति को नीरोग बना देता है। मन ही संसार की वृद्धि का कारण होने से जहर रूप है। यह मन त्रिभुवन के बारे में सोचता रहता है। जिनवचन रूपी मंत्र के सामर्थ्य से त्रिभुवन में से उसे एक परमाणु पर स्थिर कर दिया जाता है, फिर वहाँ से भी हटा दिया जाता है। केवलज्ञानी रूपी श्रेष्ठ वैद्य शैलेशीकरण के प्रयत्न द्वारा तीनों योगों को नष्ट कर देते हैं।
2. **अग्नि संकोच दृष्टांत :** लकड़ियों के ढेर से अग्नि अधिक प्रदीप्त बनती है, परंतु उस ढेर में से लकड़ियों को दूर कर दिया जाय तो वह आग

थोड़ी लकड़ियों में सीमित हो जाती है, उसके बाद उन लकड़ियों को भी हटा देने पर अग्नि सर्वथा शांत हो जाती है ।

मन भी अग्नि समान है-उसमें त्रिभुवन के विषय रूप लकड़ियाँ डालने से वह अधिक दाह पैदा करता है । शुक्ल ध्यानी विषयों का संकोच कर मन को एक परमाणु रूप ईंधन में स्थिर कर देता है फिर शैलेशीकरण के प्रयत्न से मन को परमाणु पर से हटा देने से मन सहज शांत हो जाता है ।

3. **जल ह्रास का दृष्टांत :** कच्चे घड़े में रहा पानी धीरे धीरे बाहर निकलकर कम हो जाता है या सर्वथा समाप्त हो जाता है अथवा तपे हुए बर्तन में रहा जल धीरे धीरे जलकर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार अप्रमाद के योग से जिसका संसार कमजोर हो गया है, ऐसे जीव का मन रूपी पानी धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है । अथवा अप्रमाद रूपी अग्नि से तपे हुए जीवन रूपी बर्तन में रहा मन रूपी पानी जलकर समाप्त हो जाता है ।

मनोयोग के निरोध के बाद साधक क्रमशः वचनयोग और काययोग का भी निरोध करता है । उसके बाद मेरु पर्वत की तरह स्थिर होकर शैलेशीकरण की क्रिया करता है ।

केवली समुद्घात

केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद आयुष्य कर्म के प्रमाण में ही नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति हो तो उस आत्मा को केवली समुद्घात करने की आवश्यकता नहीं रहती है, परंतु जिन केवली भगवंतों के आयुष्य की अपेक्षा नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति ज्यादा हो तो उन कर्मों की स्थिति को आयुष्य के तुल्य स्थितिवाला बनाने के लिए केवली भगवंत, केवली समुद्घात करते हैं ।

समुद्घात अर्थात् आत्मा का विशेष प्रयत्न । यह समुद्घात कुल आठ समय का होता है ।

पहले समय में आत्मा अपने आत्म-प्रदेशों को दंड के रूप में ऊपर से नीचे चौदह राजलोक में फैलाती है ।

दूसरे समय में दंडरूप बने आत्मप्रदेशों को पूर्व-पश्चिम या उत्तर-

दक्षिण में लोकांत तक फैलाकर कपाट जैसा बनाते हैं ।

तीसरे समय में शेष दो दिशाओं में लोकांत तक आत्म-प्रदेशों को फैलाकर मंथन के रूप में बना देते हैं ।

चौथे समय में बीच में रही खाली जगह को भर दिया जाता है । उस समय चौदह राजलोक के सभी आकाश-प्रदेशों में आत्मप्रदेश फैल जाते हैं ।

उपर्युक्त प्रक्रिया से वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति आयुष्य कर्म की स्थिति के समान हो जाती है ।

फिर पाँचवें समय से संकोचन क्रिया का प्रारंभ हो जाता है । पाँचवें समय में मंथन, छठे समय में कपाट, सातवें समय में दंड के रूप में और आठवें समय में आत्मा पुनः अपने शरीर व्यापी हो जाती है ।

योग निरोध

1. **मनोयोग निरोध :** मनोयोग का निरोध भी काययोग द्वारा ही होता है उस निरोध का प्रमाण बताते हैं ।

   अभी अभी उत्पन्न हुए पर्याप्तसंज्ञी जीव को कम-से-कम मनोयोग होता है-उसने जितने मनोद्रव्य लिये हों तथा जितना मनोयोग का व्यापार हो, उसकी अपेक्षा असंख्य गुणा कम मनोद्रव्य का निरोध प्रतिसमय होता रहता है-इस प्रकार असंख्य समय बीतने पर संपूर्ण मनोयोग का निरोध हो जाता है ।

2. **वचन योग निरोध :** वचन योग का भी निरोध काययोग से ही होता है । अभी अभी उत्पन्न हुए वचन पर्याप्ति युक्त बेइन्द्रिय जीव को जघन्य से वचनयोग होता है, उस वचन योग से भी असंख्यगुणा हीन वचनयोग का निरोध करते हुए संपूर्ण वचनयोग का निरोध हो जाता है ।

3. **काय योग निरोध :** सूक्ष्म निगोद अर्थात् साधारण-वनस्पति में उत्पन्न जीव को जन्म के पहले समय में जघन्य से काययोग होता है । उस काययोग से असंख्यगुणा हीन काययोग का निरोध प्रति समय कर अंत में असंख्य समय बीतने पर संपूर्ण काय योग का निरोध हो जाता है ।

   देह के तृतीयांश भाग का कम होना -

   आत्मा के आत्मप्रदेश जो शरीर व्यापी थे, काय योग का निरोध होने

के बाद वे आत्मप्रदेश शरीर के 1/3 भाग को छोड़कर 2/3 भाग में व्याप्त हो जाते हैं ।

काययोग के निरोध समय शरीर की खाली जगह में आत्मप्रदेश भर जाते हैं, अत: देह के 1/3 भाग में से आत्मप्रदेश संकुचित हो जाने से देह का 1/3 भाग आत्मप्रदेश रहित बन जाता है ।

योग के कारण जो आत्मप्रदेश कंपनशील थे । वे सभी योग निरोध के बाद निष्प्रकंप हो जाते हैं । तब आत्मा शैलेशी अवस्था प्राप्त करती है ।

शैलेशी शब्द के चार अर्थ-

1. **शैलेश :** शैल अर्थात् पर्वत । ईश अर्थात् स्वामी । शैलेश अर्थात् मेरु पर्वत । आत्मा में रहे आत्मप्रदेश मेरु की तरह निष्प्रकंप हो जाते हैं ।
2. **सेलेसी :** प्राकृत में ईसी अर्थात् ऋषि होता है । शैल अर्थात् अर्थात् मेरु पर्वत की भाँति निश्चल ऋषि ।
3. **सैलेसी :** से+अलेसी=सैलेसी । चौदहवें गुणस्थानक में योग नहीं है तो लेश्या भी नहीं है-अत: आत्मा अलेसी अर्थात् लेश्या मुक्त हो जाती है ।
4. **शैलेशी :** शील के ईश अर्थात् शील के स्वामी । 14वें गुणस्थानक में आस्रव का सर्वथा निरोध हो जाने से सर्व संवर हो जाता है । निश्चयनय से सर्वसंवर ही शील है । आत्मा का मूलभूत स्वभाव-आस्रव रहितता, सर्वसंवर ही है ।

तीसरा - चौथा शुक्ल ध्यान -

तेरहवें गुणस्थानक के अंत भाग में कायनिरोध के प्रारंभ से **'सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति'** नाम के तीसरे शुक्ल ध्यान का प्रारंभ हो जाता है ।

शैलेशी काल में चौथा प्रकार **'व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती'** शुक्ल ध्यान होता है ।

सूक्ष्म काय योग द्वारा बादर काय योग का निरोध जब से प्रारंभ होता है, तब तीसरा **'व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती'** शुक्ल ध्यान होता है । वहाँ सूक्ष्म काय योग की अभी तक निवृत्ति नहीं हुई है-वह काम करता है-इस कारण उसका महत्त्व है ।

चौदहवें गुणस्थानक में योग क्रिया सर्वथा निरुद्ध है । हमेशा के लिए उच्छिन्न है । इस अवस्था का कभी पतन भी नहीं होता है अत: उसे व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती भी कहते हैं ।

शैलेशी अवस्था में कर्मक्षय-

शैलेशी अवस्था में आत्मा प्रतिसमय असंख्य गुणा कर्म दलिकों का क्षय करती है और अंत समय में 12 या तेरह कर्म प्रकृतियों का 1. मनुष्यगति, 2. मनुष्यगत्यानुपूर्वी, 3. पंचेन्द्रिय जाति, 4. त्रस नामकर्म, 5. बादर नाम कर्म, 6. पर्याप्त, 7. सौभाग्य, 8. आदेय, 9. यश नाम कर्म (नाम कर्म की प्रकृतियाँ), 10. मनुष्य आयुष्य, 11. उच्चगोत्र, 12. शाता या अशाता में से कोई एक ।

जो सामान्य केवली हो वे इन बारह प्रकृतियों का क्षय करते हैं और जो तीर्थंकर की आत्मा हो वह तेरहवें तीर्थंकर नाम कर्म का भी क्षय करती है ।

मोक्ष गमन : चौदहवें गुणस्थानक के अंतिम समय में समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से उसके बाद एक ही समय में आत्मा ऋजु गति से सिद्ध बनकर सिद्ध शिला पर पहुँच जाती है ।

यहाँ से छूटकर सिद्ध शिला पर पहुँचने में दूसरा समय भी नहीं लगता है और दूसरे प्रदेश की स्पर्शना भी नहीं होती है ।

14वें गुणस्थानक के अंतिम समय के बाद 1 ही समय में आत्मा सिद्ध शिला पर पहुँच जाती है ।

सर्व कर्म का क्षय होने पर जब मोक्ष की प्राप्ति होती है, तब आत्मा साकार उपयोग अर्थात् ज्ञानोपयोग में ही होती है ।

आत्मा में सभी लब्धियाँ साकारोपयोग में ही प्रगट होती हैं अर्थात् केवली को पहले ज्ञानोपयोग फिर दर्शनोपयोग होता है ।

17 मन के अभाव में ध्यान

छद्मस्थ का ध्यान मन की निश्चलता-एकाग्रता में होता है, जबकि केवली का ध्यान सुस्थिर काया ही है ।

तीसरे व चौथे शुक्लध्यान में चित्त नहीं होता है फिर भी जीव के उपयोग रूप परिणाम विद्यमान होने से भवस्थ केवली को वह ध्यान होता है ।

मन के अभाव में तीसरा-चौथा ध्यान कैसे होता है ? वह दृष्टांत से समझाते हैं-

1. **पूर्व प्रयोग :** जिस प्रकार कुम्हार दंड से चक्र को घुमाता है परंतु जब वह चक्र तेजी से घूमने लगता है, तब कुम्हार दंड को हटा देता है-अब दंड का अभाव होने पर भी चक्र घूमता रहता है । इसी प्रकार तीसरे व चौथे ध्यान में मनोयोग का अभाव है, फिर भी आत्मा का ज्ञानोपयोग चालू है । ज्ञानोपयोग भाव मन रूप होने से उसे ध्यान कह सकते हैं । ध्यान कर्मक्षय में कारण है, अतः मोक्ष गत आत्मा को ध्यान की जरूरत नहीं है ।

2. **कर्मनिर्जरा का कारण :** ध्यान से कर्म का क्षय होता है । पहले दो शुक्ल ध्यान द्वारा घातिकर्मों का क्षय होता है, उसी प्रकार अंतिम दो शुक्ल ध्यान से अघाति कर्मों का संपूर्ण क्षय होता है ।

3. **शब्द के अनेक अर्थ :** एक ही शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, उसी प्रकार-
   ध्यै चिन्तायाम्, विचार अर्थ में,
   ध्यै काय निरोध, काया के निरोध में,
   ध्यै अयोगित्वे, अयोगी अवस्था में ।
   विचारों की स्थिरता, काया का निरोध तथा अयोगी अवस्था भी ध्यान स्वरूप है ।

4. **जिनवचन होने से :** ध्यान का संपूर्ण स्वरूप जिनेश्वर भगवंतों ने ही बतलाया है । रागद्वेष के विजेता कभी असत्य बात कहते नहीं है, अतः जिनागमों में निर्दिष्ट बातें भी जिनवचन हैं ।

18 शुक्ल ध्यान के चार भेद

1. पृथक्त्व वितर्क सविचार

धर्मध्यान की अपेक्षा शुक्ल ध्यान में पदार्थ का विषय अत्यंत ही सूक्ष्म होता है। किसी एक द्रव्य में अणु द्रव्य या आत्मा आदि द्रव्य का पर्याय पहले शुक्ल ध्यान का विषय बनता है।

उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि पर्यायें हैं। एक ही द्रव्य के पर्याय का ध्यान द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक या निश्चय-व्यवहार नय के अनुसार होता है।

उदा. द्रव्यार्थिक नय से उत्पाद आदि पर्याय को द्रव्य से अभिन्न मानकर चिंतन करे। यह चिंतन पूर्व के अन्तर्गत श्रुतानुसारी होता है।

पृथक्त्व-खूब विस्तार से,

वितर्क-शास्त्रानुसारी,

सविचार-विचारों का संक्रमण

यह ध्यान पूर्वगतश्रुत के स्वामी ही कर सकते हैं। फिर भी मरुदेवा आदि को यह ध्यान हुआ, उसका कारण श्रेष्ठ भाव से ऊपर के गुणस्थानक को प्राप्त करने के कारण वे पूर्वगत श्रुत के शब्द से नहीं किंतु अर्थ से वेत्ता बन गए थे।

सविचार अर्थात् अर्थ, व्यंजन और योग में एक से दूसरे पर विचरण-संक्रमण वाला होता है।

अर्थ अर्थात् वस्तु

व्यंजन अर्थात् उसका बोधक शब्द। उत्पत्ति वस्तु का बोधक शब्द उत्पाद।

योग अर्थात् मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इन तीन में विचरण है। अर्थ से व्यंजन पर या योग पर जाए-ऐसी वैकल्पिक अवस्था होती है।

इस ध्यान में विचारों का संक्रमण-परिवर्तन होता रहता है। जैसे-पहले द्रव्य का चिंतन, फिर शब्दों का चिंतन, फिर योग का चिंतन।

यह ध्यान राग के अस्तित्व काल में नहीं होता है। राग-भाव के शांत होने पर या नष्ट होने पर ही होता है।

2. एकत्व वितर्क अविचार

जिसप्रकार पवन रहित स्थान में दीपक की ज्योति स्थिर होती है- उसी प्रकार उत्पत्ति, स्थिति या नाश के तीन पर्यायों में से किसी एक पर्याय में चित्त स्थिर हो, उसे **एकत्व वितर्क अविचार** ध्यान कहते हैं ।

पहले प्रकार के शुक्ल ध्यान में अर्थ-शब्द या योग पर विचरण था, संक्रमण था, जब कि इस ध्यान में पदार्थ, शब्द या योग पर मन स्थिर हो जाता है ।

एकत्व वितर्क अर्थात् ध्याता-ध्येय और ध्यान की भिन्नता नहीं, बल्कि अभिन्नता । इस ध्यान में ध्याता-ध्येय और ध्यान इन तीनों की एकता होती है ।

यह ध्यान भी पूर्वगत श्रुत के आलंबन से ही होता है ।

''मैं ध्यान करता हूँ ।

मैं अमुक ध्यान करता हूँ ।

मेरा लक्ष्य मोक्ष है ।''

इन सभी विचारों का भेद यहां नहीं रहता है अर्थात् ध्याता, ध्येय और ध्यान में एकता आ जाती है ।

3. सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती

मोक्ष पाने का समय एकदम नजदीक आ गया हो, तब मनो योग और वचन योग का निरोध होने के बाद काययोग का भी आधा निरोध हो गया हो तब सूक्ष्म काय क्रिया होने से सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है ।

प्रथम दो प्रकार के शुक्लध्यान से आत्मा घाति कर्मरूपी कचरे को संपूर्ण साफ कर देती है, जिसके फलस्वरूप आत्मा में अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, वीतरागता और अनंतवीर्य गुण प्रगट होते हैं ।

आयुष्य का शेष समय सयोगी गुणस्थानक में व्यतीत करती है ।

सयोगी गुणस्थानक में रही हुई आत्मा सिर्फ योगजन्य एक ही कर्म-शाता वेदनीय का बंध करती है । उस कर्म की स्थिति भी अत्यल्प ही होती है । पहले समय में कर्म का बंध होता है, दूसरे समय में कर्म का उदय होता है और तीसरे समय में उस कर्म की निर्जरा भी हो जाती है ।

मोक्ष काल नजदीक आने पर आत्मा योगों का निरोध करती है । काययोग द्वारा सर्वप्रथम मनोयोग और वचनयोग का निरोध करती है । दोनों के निरोध के बाद आधे काययोग का भी निरोध हो जाता है । अब सूक्ष्म श्वास क्रिया ही रहती है-उस समय सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है ।

4. व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती-

तीसरे शुक्ल ध्यान के बाद आत्मा शैलेशी अवस्था अर्थात् मेरु की तरह संपूर्ण निश्चल अवस्था प्राप्तकर व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती नाम का चौथा शुक्ल ध्यान करती है ।

तेरहवें गुणस्थानक का काल पूरा होने के बाद आत्मा चौदहवें अयोगी गुणस्थान को प्राप्त करती है । वहाँ मेरु की तरह निश्चल बनी आत्मा का सूक्ष्म काययोग भी चला जाता है और वह **व्युच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती** शुक्ल ध्यान करती है ।

यहाँ सभी क्रियाएँ चली गई हैं । अप्रतिपाती अर्थात् प्राप्त अवस्था अब कभी भी जानेवाली नहीं है-अर्थात् सदाकाल रहनेवाली है । प्रथम दो शुक्ल ध्यान केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व और अंतिम दो शुक्ल ध्यान मोक्ष पाने के पहले होते हैं । स्वरूप होने से उनमें शंका को कोई स्थान नहीं है ।

5. अनुप्रेक्षा

शुक्ल ध्यान से भावित चित्तवाला चारित्र संपन्न जीव ध्यान से विराम पाने पर चार प्रकार की अनुप्रेक्षा करता है ।

अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा ध्यान रहता नहीं है । धर्मध्यान का काल पूरा होते ही साधक अनित्य आदि बारह भावनाओं की अनुप्रेक्षा करता है, उसी प्रकार शुक्लध्यान का काल पूरा होने पर निम्न चार अनुप्रेक्षाएँ करता है–

1. **आस्त्रव के अनर्थ :** मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से आत्मा में कर्मों का आस्त्रव-आगमन होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप भवभ्रमण बढ़ता है, अत: भव से मुक्ति पानी हो तो आस्त्रव के द्वारों को बंद करना जरूरी है । इस चिंतन से शुक्ल ध्यान का प्रथम चरण **पृथक्त्व वितर्क सविचार** दृढ़ होता है जो ध्यान की वृद्धि में सहायक है ।

2. **संसार का अशुभ स्वभाव :** यह सारा संसार दु:ख की खान स्वरूप है, जहाँ नाम मात्र का भी सुख नहीं है और दु:ख का पार नहीं है । संसार में आसक्त रही आत्मा को क्षण भर भी सुख नहीं है ।

3. **भव की अनंत परंपरा :** संसारी जीव अपनी वासना के द्वारा तो अपना संसार बढ़ाता ही है, इसके साथ राग, द्वेष और मोह के द्वारा भी अपने भवों की परंपरा बढ़ाकर नरक आदि दुर्गतियों में भटकता रहता है ।

   संसार तो सागर से भी अधिक भयंकर है । सागर का पार पा सकते हैं, परंतु संसार का नहीं ।

4. **वस्तु का अपरिणाम :** संसार में जड़-चेतन आदि सभी पदार्थ अस्थिर हैं । सभी द्रव्य परिणमनशील हैं । शाश्वत पदार्थों में भी परमाणु गमनागमन शीलवाले हैं ।

   चारों प्रकार की ये अनुप्रेक्षाएँ पहले दो शुक्ल ध्यान में ही होती हैं-क्योंकि उसी में मन होता है । अंतिम दो में मन का अभाव होने से ये अनुप्रेक्षाएँ नहीं होती हैं ।

शुक्ल ध्यान में योग -

पहले शुक्ल ध्यान में एक या तीनों योग होते हैं ।
दूसरे शुक्ल ध्यान में एक ही योग होता है ।
तीसरे शुक्ल ध्यान में सूक्ष्म काय योग होता है ।
चौथे शुक्ल ध्यान में योग का अभाव होता है ।

पृथक्त्व वितर्क सविचार नाम के शुक्ल ध्यान में मनोयोग या तीनों योग होते हैं, क्योंकि यह ध्यान संक्रमण वाला होने से एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होने से तीनों योग भी संभव हैं ।

दूसरे ध्यान में योग का संक्रमण नहीं होता है । मन, वचन और काया में से जिस योग में तल्लीनता आ गई हो, वही योग होता है । अत: तीन में से एक ही योग होता है ।

तीसरे ध्यान में मनोयोग-वचनयोग चले गए होते हैं । ये दो योग हैं । तब तक तीसरा ध्यान संभव नहीं है । काय योग भी सूक्ष्म हो जाता है ।

चौथे शुक्ल ध्यान में सूक्ष्म काय योग भी नहीं रहता है ।

19 शुक्ल ध्यान में लेश्या

शुक्ल ध्यान के पहले दो ध्यान में शुक्ललेश्या । तीसरे में परम शुक्ल लेश्या होती है और चौथा शुक्लध्यान लेश्या रहित होता है ।

शुक्लध्यानी के चार लिंग

शुक्लध्यान में लीन मुनि के चार चिह्न बताए गए हैं–

1. **अवध :** शुक्ल ध्यान में लीन मुनि मरणांत परिषह और उपसर्गों में भी लेश भी भयभीत नहीं होता है ।

दैविक उपसर्गों में भी शुक्ल ध्यानी अपने ध्यान से लेश भी विचलित नहीं होते हैं ।

2. **असंमोहन :** शुक्ल ध्यान दरम्यान पूर्वगत श्रुत के आधार पर सूक्ष्म पदार्थ के चिंतन में जो एकाग्रता होती है, उन्हें देवता आकर भी मोहित नहीं कर सकते हैं अर्थात् वे देवमाया आदि से भी विचलित नहीं होते हैं ।

3. **विवेक :** देह में रही आत्मा भी देह से सर्वथा भिन्न है । शुक्ल ध्यान दरम्यान देह और आत्मा की भेद रेखा का स्पष्ट विवेक उन्हें होता है । देह आग से जल रहा हो तो भी, जो जल रहा, वह मेरा नहीं-इस प्रकार की अनुभूति सतत बनी रहती है ।

4. **व्युत्सर्ग :** शुक्ल ध्यानी शरीर व उपधि आदि में सर्वथा नि:संग-ममत्व रहित होते हैं ।

सामान्य व्यक्ति में तो इन चार लक्षणों का एक अंश भी नहीं होता है । शुक्ल ध्यानी में ये लक्षण पराकाष्ठा पर होते हैं ।

धर्मध्यान व शुक्लध्यान का फल

धर्मध्यान के चार फल -

1. **शुभ-आस्त्रव :** धर्म ध्यान के प्रभाव से अशुभ आस्त्रव बंद हो जाते हैं और एक मात्र शुभ कर्म का ही आस्त्रव-बंध होता है । पाप का बंध रुक जाता है और पुण्य का प्रवाह चालू रहता है ।
2. **संवर :** आत्मा में पाप कर्म के आगमन का द्वार बंद हो जाता है । उस जीव को विपुल प्रमाण में संवर होता है ।

3. **निर्जरा :** धर्म ध्यान के प्रभाव से विपुल प्रमाण में कर्मों की निर्जरा होती है ।

4. **दिव्य सुख प्राप्ति :** धर्म ध्यान के प्रभाव से पुण्य का बल खूब बढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप आयुष्य बंध हो तो दिव्य सुखों की ही प्राप्ति होती है ।

शुक्ल ध्यान का फल-

धर्मध्यान की अपेक्षा प्रथम दो शुक्ल ध्यान में अत्यधिक प्रमाण में शुभ आस्त्रव-संवर और निर्जरा होती है । आयुष्य बंध हो तो अनुत्तर देवलोक में एकावतारी के रूप में जन्म लेता है । उपशम श्रेणी से गिरे और आयुष्य पूर्ण करे तो अनुत्तर देवलोक के दिव्य सुखों का अनुभव करता है ।

अंतिम दो शुक्ल ध्यान तो केवलज्ञानी को होते हैं जो सभी कर्मों का क्षय कर मोक्ष पद प्राप्त करते हैं ।

संसार और मोक्ष-

आस्त्रव के द्वार संसार के हेतु हैं क्योंकि वे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान में होते नहीं हैं ।

मोक्ष का मार्ग संवर और निर्जरा स्वरूप है और उसका उपाय तप है । ध्यान तप का प्रधान अंग है अतः मोक्ष का हेतु है ।

संवर से आत्मा में नवीन कर्मों का आगमन रुक जाता है और निर्जरा से आत्मा पर लगे पुराने कर्म झड़ जाते हैं, अतः संवर और निर्जरा कर्मक्षय का मुख्य हेतु है ।

निर्जरा तो बाह्य-अभ्यंतर तप स्वरूप है ही परंतु संवर के 57 भेदों में 10 प्रकार के यति धर्मों में तप का समावेश होता है ।

तप में भी प्रधान अंग शुभ ध्यान है । शुभ ध्यान से विशिष्ट कर्मनिर्जरा होती है, अतः तप का प्रधान अंग ध्यान कहा गया है ।

ध्यान को 7 उपमाएँ-

1. **जल की उपमा :** जिस प्रकार कपड़े में रहा मैल जल से शुद्ध होता है, उसी प्रकार जीव रूपी वस्त्र में रहा कर्मरूपी मैल ध्यान से शुद्ध होता है ।

2. **अग्नि :** जिस प्रकार खान में रहे मलिन स्वर्णपाषाण (सुवर्ण) को आग शुद्ध कर देती है, उसी प्रकार आत्मा में रहे मैल को ध्यान रूपी अग्नि शुद्ध कर देती है ।

3. **सूर्य :** वर्षा के कारण कीचड़वाला बना रास्ता सूर्य के ताप से अच्छा हो जाता है अर्थात् कीचड़ सूख जाता है, उसी प्रकार आत्मा में रहा कर्मरूपी कीचड़ ध्यान रूपी सूर्य के ताप से सूख जाता है और आत्मा निर्मल बन जाती है ।

4. **औषध :** रोगी के दर्द को दूर करने के लिए वैद्य दर्द के मूल कारण को शोधकर उसका निदान करता है । दर्द को दूर करने के लिए वमन, विरेचन या लंघन कराता है-फिर औषधि द्वारा शरीर को पुष्ट करता है, उसी प्रकार आत्मा में लगे कर्म रोग का शमन अनशन द्वारा हो जाता है । तप से चीकने कर्म भी आत्मा से अलग हो जाते हैं । कर्म रोग को शांत करने का अमोघ साधन ध्यान है ।

5. **अग्नि :** जिस प्रकार लकड़ी के ढेर को अग्नि जलाकर भस्मीभूत कर देती है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि आत्मा में संचित हुए कर्म को जलाकर नष्ट कर देती है ।

6. **पवन :** जिस प्रकार प्रचंड पवन आकाश में छाए बादलों को क्षणभर में बिखेर देता है, उसी प्रकार ध्यान रूपी पवन आत्मा पर छाए कर्मरूपी बादलों को थोड़ी ही देर में बिखेरकर दूर कर देता है ।

7. **योग :** मन, वचन और काया के योग, आत्म-प्रदेशों को कंपनशील रखते हैं । उसी अवस्था में आत्मा पर कर्म चोंटते हैं । यदि आत्मा स्थिर हो जाय अर्थात् योग निग्रह हो जाय तो आत्मा पर एक भी कर्म परमाणु नहीं चोंटता है-चौदहवें अयोगी गुणस्थानक में योग निग्रह अर्थात् योग का अभाव होने से कर्म का बंध नहीं होता है ।

जिस प्रकार योग निग्रह से मन, वचन और काया के योगों का तपन, शोषण और भेदन होता है, उसी तरह ध्यान, योगनिग्रह का अनन्य साधन है । ध्यान में एकाग्रता आने से योगों का अवश्य तपन, शोषण और भेदन होता है ।

ध्यान के ताप से मन, वचन और काया की प्रवृत्ति ढीली होकर सूखने लगती है और अंत में नष्ट हो जाती है ।

ध्यान की महिमा

1. **मानसिक दु:खों का नाश :** शुभ ध्यान की साधना से मानसिक दु:खों का नाश हो जाता है ।

किसी के उत्कर्ष को देख मन में ईर्ष्या भाव पैदा होता है । सानुकूल सामग्री प्राप्त न होने पर मन में खेद होता है । अपनी पसंदगी की वस्तु खो जाय तो शोक होता है । इस प्रकार क्रोध, ईर्ष्या, खेद, शोक, उद्वेग आदि मन के दु:ख हैं ।

ध्यान में जब मन स्थिर हो जाता है, तब मन के ये सारे रोग नष्ट हो जाते हैं-शांत हो जाते हैं ।

2. **शारीरिक पीडा का अभाव :** ध्यान में चित्त स्थिर बनने पर देह पर से चित्त हट जाता है, ऐसी स्थिति में देह में होनेवाली पीड़ाओं का भी अनुभव नहीं होता है ।

ध्यान द्वारा देह और आत्मा की भिन्नता का भान होता है । देह की भिन्नता को जान लेने पर देह में होनेवाली पीड़ाओं की अनुभूति नष्ट हो जाती है अथवा कम हो जाती है ।

शरीर की ममता जितने प्रमाण में कम होगी, उतने प्रमाण में देह की पीड़ा की अनुभूति भी कम होगी ।

यह ध्यान तो सभी गुणों का आधार है अर्थात् जीवन में ध्यान आने पर अन्य गुण भी आए बिना नहीं रहते हैं । ध्यान से ही वैराग्य का पोषण और राग का शोषण होता है ।

ध्यान के फलस्वरूप वर्तमान जीवन में परमशांति-परम आनंद का अनुभव होता है तो परलोक में सद्गति एवं परंपरा से मुक्ति यह ध्यान का परोक्ष फल है । ध्यान से उत्कृष्ट पुण्य का बंध होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप संसार में रहे, तब भी उत्कृष्ट सुखों को प्राप्त करता है ।

वीतराग परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट होने से यह ध्यान अत्यंत ही प्रशस्त है ।

यह ध्यान परमश्रद्धेय है, ज्ञेय है और जीवन में आचरण करने योग्य है, अत: निर्जरा की अपेक्षा रखनेवाले मोक्षकामी आत्मा को धर्मध्यान व शुक्लध्यान की आराधना-साधना अवश्य करनी चाहिए ।

20

परिशिष्ट-I

ध्यान-शतक

(ग्रंथकार :- पूज्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण
हिन्दी अनुवादक :- कन्हैयालाल लोढा-डॉ. सुषणा सिंघवी
'ध्यान-शतक'...से साभार-स्वीकार)

ध्यानशतक-मूल एवं अनुवाद

श्री जिनभद्र क्षमाश्रमण ध्यानाध्ययन ग्रन्थ के प्रारम्भ में नमस्कारात्मक मंगलाचरण करते हैं–

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधण पणमिऊणं ।
जोईसरं सरण्णं झाणज्झयणं पवक्खामि ।।1।।

जिन्होंने शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को दग्ध कर दिया है ऐसे शरणदाता, श्रेष्ठ योगी वीर भगवान् को नमस्कार करके ध्यानाध्ययन का प्रवचन करूँगा ।

ध्यान के चार भेदों का निरूपण करने से पूर्व ध्यान का लक्षण–

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं ।
तं होज्ज भावणा वा अणुपेहा वा अहव चिंता ।।2।।

स्थिर अध्यवसान ध्यान है । अस्थिर अध्यवसान को चित्त कहा जाता है भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता (चिन्तन) चित्त को स्थिर करने में सहयाक हैं ।

छद्मस्थ तथा जिनेश्वरों के ध्यान की विशेषता बताते हैं—

अंतोमुहुत्तमेत्तं चित्तावत्थाणमेगवत्थुंमि ।
छउमत्थाणं झाणं जोगनिरोहो जिणाणं तु ।।3।।

अन्तर्मुहूर्त काल तक एक वस्तु (ध्येय) में चित्त का स्थिर होना– यह छद्मस्थ का ध्यान है और मन-वचन-काया की प्रवृत्ति रूप योगों का निरोध होना यह केवलज्ञानियों का ध्यान है ।

छद्मस्थ के ध्यान प्रवाह—

अंतोमुहुत्तपरओ चिंता झाणंतरं व होज्जाहि ।
सुचिरंपि होज्ज बहुवत्थुसंकमे झाणसंताणो ।।4।।

व्याख्या : छद्मस्थ के ध्यान में अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् कोई भावना, अनुप्रेक्षा या चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है। अनेक वस्तुओं का आलम्बन लेने पर ध्यान का प्रवाह लम्बे समय तक भी हो सकता है । छद्मस्थ के ध्यान में अन्तर्मुहूर्त पश्चात् चिन्ता अथवा ध्यानान्तर प्रारम्भ हो जाता है । छद्मस्थ का मन बहुत वस्तुओं (ध्येयों) में संक्रमित होते रहने से ध्यान का क्रम अर्थात् चिन्तन का प्रवाह बहुत समय तक चलता रहता है। ध्यानान्तर तभी होता है जब उसके पश्चात् ध्यान होने वाला हो ।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में ध्यान के भेद और फल का निर्देश—

अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइ तत्थ अंताइं ।
निव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्ट-रुद्दाइं ।।5।।

आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान हैं। जिनमें से आर्त और रौद्र ध्यान संसार के कारण हैं तथा अन्तिम दो ध्यान धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान निर्वाण में सहायक हैं ।

आर्तध्यान

प्रथम अनिष्ट संयोग आर्त ध्यान—

अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स ।
धणियं विओगचिंतणमसंपओगाणुसरणं च ।।6।।

व्याख्या : द्वेष से मलिन होकर अमनोज्ञ शब्द आदि इन्द्रिय विषयों के वियोग के लिए अत्यन्त चिन्ता करना तथा उनकी पुनः प्राप्ति न हो इसका निरन्तर अनुस्मरण करना आर्त ध्यान का प्रथम प्रकार है। अमनोज्ञ-अवांछित शब्दादि विषयों और वस्तुओं से पिण्ड छुड़ाने रूपी अत्यधिक चिन्ता और पुनः उनका संयोग नहीं होवे, ऐसी अत्यधिक लालसा रूपी असम्प्रयोग-अनुसरण प्रथम प्रकार का आर्त ध्यान है, जो द्वेष से ग्रस्त व्यक्ति को होता है ।

आर्त ध्यान के द्वितीय भेद **आतुर चिन्ता आर्त ध्यान** का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं-

तह सूल-सीसरोगाइवेयणाए विजोगपणिहाणं ।
तदसंपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स ।।7।।

रोग को दूर करने के लिए आकुल मन वाले का शूल, मस्तक के रोगादि की वेदना उत्पन्न होने पर उनके वियोग के लिए चिन्तन करना, उनके प्रतिकार (चिकित्सा) के लिए आकुल-व्याकुल होना तथा वे पुनः प्राप्त न हों, इस चिन्तन में लीन होना, यह दूसरे प्रकार का आर्त ध्यान है ।

तृतीय इष्ट-वियोग आर्त ध्यान—

इट्ठाणं विसयाईण वेयणाए य रागरत्तस्स ।
अवियोगऽज्झवसाणं तह संजोगाभिलासो य ।।8।।

राग में आसक्त व्यक्ति का इष्ट विषय प्राप्ति आदि अनुकूल अनुभव होने पर इन विषय-भोगों का वियोग न हो जाय, ऐसा अध्यवसान होना तथा इनके संयोग को बनाये रखने की अभिलाषा करना, यह तीसरे प्रकार का आर्त ध्यान है ।

चतुर्थ निदान चिन्तन आर्त ध्यान—

देविंद-चक्कवट्टित्तणाइं गुण-रिद्धिपत्थणमईयं ।
अहमं नियाणचिंतणमण्णाणाणुगयमच्चंतं ।।9।।

देवेन्द्र और चक्रवर्ती आदि के गुण (रूपादिक) तथा ऋद्धि की प्रार्थना (याचना) करना निदान है । इसका चिन्तन करना अधम है और यह अत्यन्त अज्ञान से उत्पन्न होता है ।

आर्त ध्यान का परिणाम—

एयं चउव्विहं राग-दोस-मोहंकियस्स जीवस्स ।
अट्टज्झाणं संसारवद्धणं तिरियगइमूलं ।।10।।

राग-द्वेष-मोह से प्रभावित जीव के उपर्युक्त वर्णित चार प्रकार का आर्त ध्यान होता है । आर्तध्यान तिर्यञ्च गति का मूल कारण होने से संसार को बढ़ाने वाला होता है ।

मुनि का ध्यान समता वाला होता है । यह निरूपण करते हुए कहते हैं-

मज्झत्थस्स उ मुणिणो सकम्मपरिणामजणियमेयंति ।
वत्थुस्सभावचिंतणपरस्स समं (म्मं) सहंतस्स ।।11।।

मध्यस्थ भाव रखने वाले, **'अपने कर्म के फलस्वरूप ये रोगादि अनिष्ट संयोग रूप दुःख उत्पन्न हुए हैं'**-इस प्रकार वस्तु स्वभाव के चिन्तन में तत्पर, सम्यक् प्रकार (राग-द्वेषरहित-समभाव) से रोगादि सहन करनेवाले मुनि का ध्यान समता वाला होता है, आर्त ध्यान नहीं होता है ।

संयमी मुनि को आर्त ध्यान नहीं—

कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमप्पसावज्जं ।
तव-संजमपडियारं च सेवओ धम्ममणियाणं ।।12।।

अमनोज्ञ संयोग में प्रशस्त (शुभ) अध्यवसान का आलम्बन लेने वाले, रोगादि में निर्दोष-अल्पसावद्यकारी प्रतिकार का आलम्बन लेने वाले, इष्टवियोग में तप-संयम प्रतिकार का आलम्बन करने वाले तथा अनिदानपूर्वक धर्म का सेवन करने वाले मुनि को आर्त ध्यान नहीं होता है ।

आर्त ध्यान संसार का कारण—

रागो दोसो मोहो य जेण संसारहेयवो भणिया ।
अट्टंमि य ते तिण्णिवि तो तं संसार-तरुबीयं ।।13।।

राग, द्वेष और मोह-ये संसार के हेतु कहे गये हैं । ये तीनों आर्त ध्यान में विद्यमान रहते हैं इसलिए आर्त ध्यान को संसार रूपी वृक्ष का बीज कहा गया है ।

आर्त ध्यानी की लेश्याएँ और उनके परिणाम—

कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइसंकिलिट्ठाओ ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ ।।14।।

आर्त ध्यानी के कर्म परिणाम से उत्पन्न हुई कापोत, नील और कृष्ण लेश्याएँ रौद्र ध्यान की अपेक्षा अति संक्लिष्ट परिणामवाली नहीं होती हैं ।

आर्त ध्यान के लक्षण—

तस्सऽक्कंदण-सोयण-परिदेवण-ताडणाइं लिंगाइं ।
इट्ठाऽणिट्ठविओगाऽविओग-वियणानिमित्ताइं ।।15।।

इष्ट के वियोग, अनिष्ट के अवियोग अर्थात् संयोग, वेदना के कारण से आर्त ध्यानी के आक्रन्दन, शोचन, परिदेवन और ताड़न आदि चिह्न होते हैं ।

आर्त ध्यानी हीनभावना से ग्रस्त होता है—

निंदइ य नियकयाइं पसंसइ सविम्हओ विभूईओ ।
पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होइ ।।16।।

आर्त ध्यान में व्यक्ति अपने कृत्यों की निन्दा करता है । दूसरों की सम्पदाओं की साश्चर्य प्रशंसा करता है, उनकी अभिलाषा करता है । प्राप्त होने पर उनमें आसक्त और उनको पाने के लिए सतत चेष्टा करता रहता है ।

आर्त ध्यान की धर्मविमुखता—

सद्दाइविसयगिद्धो सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।
जिणमयमणवेक्खंतो वट्टइ अट्टंमि झाणंमि ।।17।।

जो व्यक्ति शब्दादि विषयों से गृद्ध है । सद्धर्म से पराङ्मुख है, प्रमादी है और जिनमत की उपेक्षा करता हुआ रहता है (वीतराग के प्रवचन से निरपेक्ष है) वह आर्त ध्यान में प्रवृत्त होता है ।

आर्त ध्यान हेय है—

तदविरय-देसविरया-पमायपरसंजयाणुगं झाणं ।
सव्वप्पमायमूलं वज्जेयव्वं जइजणेणं ।।18।।

व्याख्या : यह आर्त ध्यान अविरत (मिथ्यादृष्टि), देशविरत (श्रावक) और प्रमत्त संयत (छठे गुणस्थानवर्ती मुनि) के होता है । यह सभी प्रमादों का मूल है । मुनि-जनों (तथा श्रावक) को इसका वर्जन करना चाहिए । गुणस्थान की दृष्टि से असंयमी अविरत (मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यगदृष्टि), कथंचित् संयमी देशविरत तथा प्रमादयुक्त संयमी (प्रमत्त संयत) द्वारा किये जाने वाले आर्त ध्यान समस्त प्रमादों की मूल जड़ हैं, अतः यतिजन (साध्य को पाने

का प्रयत्न करनेवाले साधकजन) को आर्त ध्यान का त्याग करना चाहिए ।

रौद्रध्यान

रौद्र ध्यान के चार भेदों में प्रथम हिंसानुबंधी रौद्रध्यान—

सत्तवह-वेह-बंधण-डहणंऽकण-मारणाइपणिहाणं ।
अइकोहग्गहगत्थं निग्घिणमणसोऽहमविवागं ।।19।।

निर्दय व्यक्ति का प्राणियों के वध, बन्धन, दहन, अंकन और मारने आदि का क्रूर अध्यवसान होना तथा अनिष्ट, विपाक वाले उत्कट क्रोध के ग्रह से ग्रस्त होना रौद्र ध्यान का `हिंसानुबन्धी' नामक प्रथम प्रकार है ।

मृषानुबन्धी रौद्र ध्यान—

पिसुणासब्भासब्भूय-भूयघायाइवयणपणिहाणं ।
मायाविणोऽइसंधणपरस्स पच्छन्नपावस्स ।।20।।

मायावी, दूसरे को ठगने में प्रवृत्त तथा अपना पाप छिपाने के लिए तत्पर जीव के पिशुन-अनिष्ट सूचक वचन, असभ्य वचन, असत्य वचन तथा प्राणीघात करनेवाले वचनों में प्रवृत्त न होने पर भी उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय का होना रौद्र ध्यान का **'मृषानुबन्धी'** नामक द्वितीय प्रकार है ।

स्तेयानुबंधी रौद्र ध्यान—

तह तिव्वकोह-लोहाउलस्स भूओवघायणमणज्जं ।
परदव्वहरणचित्तं परलोयावायनिरवेक्खं ।।21।।

तीव्र क्रोध और लोभ में आकुल होकर प्राणियों का उपहनन, अनार्य आचरण और दूसरे की वस्तु का अपहरण करने का चिन्तन करना तथा पारलौकिक अपायों-नरक गमन आदि से निरपेक्ष रहना रौद्र ध्यान का **'स्तेयानुबंधी'** नामक तृतीय प्रकार है ।

विषयसंरक्षणानुबंधी या परिग्रहानुबंधी रौद्र ध्यान—

सद्दाइविसयसाहण-धणसारक्खण-परायणमणिट्ठं ।
सव्वाभिसंकण-परोवघाय-कलुसाउलं चित्तं ।।22।।

तीव्र क्रोध और लोभ से आकुल व्यक्ति का चित्त (ध्यान/योग) शब्दादि

विषयों की प्राप्ति के साधन, धन की रक्षा में संलग्न रहना, अनिष्ट चिन्तन में रत रहना, सभी के प्रति शंकालु होना, दूसरों का घात करने के (विचार वाले) कषायों से आकुल रहना । यह रौद्र ध्यान का परिग्रहानुबंधी अथवा विषयसंरक्षणानुबंधी नामक चतुर्थ प्रकार है ।

रौद्र ध्यान निन्दनीय है—

इय करण- कारणाणुमइ-विसयमणुचिंतणं चउब्भेयं ।
अविरय- देसासंजयजणम-णसंसेविय-महण्णं ।।23।।

इस प्रकार रौद्र ध्यान के चार भेद हैं - हिंसानुबंधी, मृषानुबंधी, स्तेयानुबंधी, विषयसंरक्षणानुबंधी । इनको स्वयं करना, करवाना व इनकी अनुमोदना करना तथा उसी विषय का पर्यालोचन करना रौद्र ध्यान है । यह अश्रेयस्कर ध्यान अविरत और देशसंयत (श्रावकों) के होता है ।

रौद्र ध्यान नरकगति का कारण—

एयं चउव्विहं राग-दोष-मोहाउलस्स जीवस्स ।
रोद्दज्झाणं संसारवद्धणं नरयगइमूलं ।।24।।

राग, द्वेष और मोह से आकुल जीव के चार प्रकार का रौद्र ध्यान होता है । यह ध्यान संसार (जन्म-मरण) की वृद्धि करनेवाला और नरकगति का मूल है ।

रौद्र ध्यान की लेश्याएं—

कावोय-नीला-काला लेसाओ तिव्वसंकलिट्ठाओ ।
रोद्दज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणियाओ ।।25।।

रौद्र ध्यान के समय व्यक्ति की कापोत, नील व कृष्ण-ये तीनों लेश्याएँ अत्यन्त संक्लिष्ट होती हैं । ये लेश्याएँ कर्मपरिणामजनित होती हैं ।

रौद्र ध्यानी जीव के दोषों का निरूपण करते हुए कहते हैं–

लिंगाइं तस्स उस्सण्ण-बहुल-नाणाविहाऽऽमरणदोसा ।
तेसिं चिय हिंसाइसु बाहिरकरणोवउत्तस्स ।।26।।

जो इस हिंसा, मृषावाद आदि (रौद्र ध्यान के चारों प्रकारों में) वाणी और शरीर से संलग्न है, उस रौद्र ध्यानी के उत्सन्न, बहुल, नानाविध,

आमरण दोष-ये चार लक्षण (पहचान) हैं । रौद्र ध्यान के हिंसा आदि चार प्रकारों में से किसी एक में अत्यन्त आसक्ति से प्रवृत्त होना **उत्सन्नदोष** है । रौद्र ध्यान के सभी प्रकारों में प्रवृत्त होना **बहुलदोष** है । चमड़ी उधेड़ने, आँखें निकालने आदि क्रूर हिंसात्मक कार्यों मे बार-बार प्रवृत्त होना **नानाविधदोष** है । हिंसा आदि करने में मृत्यु पर्यत्न अनुताप न होना **आमरण दोष** है ।

रौद्र ध्यानी पर-पीड़ा में प्रसन्न—

परवसणं अहिनंदइ निरवेक्खो निद्दओ निरणुतावो ।
हरिसिज्जइ कयपावो रोद्दज्झाणोवगयचित्तो ।।27।।

रौद्र ध्यान में संलग्न जीव दूसरों के दु:ख का अभिनन्दन करता है, दूसरों को विपत्ति में देख अति प्रसन्न होता है । वह निरपेक्ष होता है, दूसरों को विनाश व दु:ख से बचाने का प्रयत्न नहीं करता है । निर्दय होता है, असंवेदनशील होता है और अनुताप रहित होता है । वह हिंसादि पाप करके हर्षित होता है । ये रौद्र ध्यान के लक्षण हैं ।

धर्म ध्यान

धर्म ध्यान का निरूपण—

झाणस्स भावणाओ देसं कालं तहाऽऽसणविसेसं ।
आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो ।।28।।
तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं ।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं ।।29।।

शुभ ध्यान साधक मुनि को भावना, देश, काल तथा आसन विशेष, आलम्बन, क्रम, ध्येय, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग और फल को जानकर धर्म ध्यान में तत्पर होना चाहिए । धर्म ध्यान का अभ्यास करने के पश्चात् उसे शुक्ल ध्यान में संलग्न होना चाहिए ।

भावना ध्यान में सहायक—

पुण्णकयभासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ ।
ताओ य नाण-दंसण-चरित्त-वेरग्गनियताओ ।।30।।

जिसने भावनाओं के माध्यम से ध्यान का पहले अभ्यास किया है वह

ध्यान करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। भावनाएँ चार प्रकार की हैं-1. ज्ञान भावना, 2. दर्शन भावना, 3. चारित्र भावना, 4. वैराग्य भावना।

ज्ञान भावना का निरूपण—

णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च ।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ ।।31।।

(योग्य ध्याता) ज्ञान का नित्य अभ्यास करने वाला, ज्ञान में मन को स्थिर करता है, (सूत्र और अर्थ ज्ञान से) मन की विशुद्धि करता है। तत्पश्चात् ज्ञान के उस माहात्म्य से परमार्थ सार को जानने वाला वह सुनिश्चल मति (स्थिर बुद्धि) होकर ध्यान करता है।

दर्शन भावना का निरूपण—

संकाइदोसरहिओ पसम-थेज्जाइगुणगणोवेओ ।
होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि ।।32।।

जो अपने को शंका आदि (कांक्षा-विचिकित्सा-परपाखण्ड प्रशंसा, पर-पाखण्ड संस्तव) दोषों से रहित; प्रशम (संवेग-निर्वेद-अनुकम्पा-आस्था) तथा स्थैर्य आदि गुणों से युक्त कर लेता है, वह (दृष्टि की समीचीनता के कारण) ध्यान में अभ्रान्त चित्त वाला हो जाता है।

चारित्र भावना का निरूपण—

नवकम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं ।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समेइ ।।33।।

चारित्र भावना के द्वारा नवीन कर्मों के ग्रहण का अभाव, पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा, शुभ (पुण्य) कर्मों का ग्रहण और ध्यान; ये बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के ही प्राप्त होते हैं।

वैराग्य भावना—

सुविदियजगस्सभावो निस्संगो निब्भओ निरासो य ।
वेरग्गभावियमणो झाणंमि सुनिच्चलो होइ ।।34।।

जिसने जगत् के स्वभाव को भली प्रकार जान लिया है, जो निःसंग, निर्भय और सर्वआशाओं से रहित है उसका मन वैराग्य भावना से ओत-प्रोत होता है। वह ध्यान में सहज ही निश्चल (स्थिर) हो जाता है।

ध्यान के योग्य देश—

निच्चं चिय जुवइ-पसू-नपुंसग-कुसीलवज्जियं जइणो ।
ठाणं वियण भणियं विसेसओ झाणकालंमि ।।35।।

मुनि सदैव स्त्री, पशु, नपुंसक और दुराचारी व्यक्तियों से रहित एकान्त स्थान में रहे । ध्यान के समय तो विशेष रूप से मुनि का स्थान निर्जन होना कहा गया है ।

जहाँ चित्त स्थिर रहे वही ध्यान योग्य स्थान—

थिर-कयजोगाणं पुण मुणीण झाणे सुनिच्चलमणाणं ।
गामंमि जणाइण्णे सुण्णे रण्णे व ण विसेसो ।।36।।

योगों की स्थिरता से जिनका मन ध्यान में निश्चल (स्थिर) हो गया है, ऐसे मुनियों के लिए मनुष्यों से व्याप्त ग्राम में और शून्य अरण्य में कोई अन्तर नहीं है ।

ध्यान योग्य स्थान का वर्णन—

जो (तो) जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयण-कायजोगाणं ।
भूओवरोहरहिओ सो देसो झायमाणस्स ।।37।।

जिस स्थान पर ध्यान करने से मन, वचन और काया के योगों का स्वास्थ्य बना रहे अथवा समाधान हो और जो स्थान जीवों के संघटन से रहित हो, वही देश (स्थान) ध्यान करने वाले ध्याता के लिए उपयुक्त स्थान है ।

ध्यान के योग्य काल—

कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ ।
न उ दिवस-निसा-वेलाइनियमणं झाइणो भणियं ।।38।।

ध्यान के लिए काल भी वही श्रेष्ठ है जिस काल में (मन, वचन और काया के) योगों का समाधान प्राप्त होता है । ध्यान करने वाले के लिए किसी निश्चित दिन, रात्रि और वेला का नियम नहीं बनाया जा सकता ।

ध्यान योग्य आसन—

जच्चिय देहावत्था जिया ण झाणोवरोहिणी होइ ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो वा ।।39।।

जिस देहावस्था (आसन) का अभ्यास हो चुका है और जो ध्यान में बाधक नहीं है उसी में अवस्थित होकर ध्याता खड़े होकर (कायोत्सर्ग आदि में), बैठकर (वीरासन आदि में) अथवा सोकर (दण्डायतिक आदि आसन में) ध्यान करे ।

ध्यान के लिए मन-वचन-काय-योग का स्थिर होना महत्त्वपूर्ण है । इसका निरूपण करते हुए काल, देश, अवस्था की कट्टरता का निषेध —

सव्वासु वट्टमाणा मुणओ जं देस-काल-चेट्ठासु ।
वरकेवलाइलाभं पत्ता बहुसो समियपावा ।।40।।
तो देस-काल-चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि ।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा (प) यइयव्वं ।।41।।

सभी देश, सर्वकाल और सर्वचेष्टा (आसनों) में विद्यमान, उपशान्त दोष वाले अनेक मुनियों ने (ध्यान के द्वारा) उत्तम केवलज्ञान आदि की प्राप्ति की है, अत: ध्यान के लिए देश, काल, चेष्टा (आसन) का कोई नियम नहीं है किन्तु जिस प्रकार से मन, वचन और काया के योगों का समाधान हो, उसी प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए ।

ध्यान के आलम्बन का निरूपण—

आलंबणाइं वायण-पुच्छण-परियट्टणाऽणुचिंताओ ।
सामाइयायाइं सद्धम्मावस्सयाइ च ।।42।।
विसमंमि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो ।
सुत्ताइकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ ।।43।।

धर्म ध्यान के ये आलम्बन हैं-1. वाचना, 2. पृच्छना, 3. परिवर्तना, 4. अनुचिन्ता । ये चारों श्रुतधर्मानुगामी आलम्बन हैं । सामायिक आदि षड़ावश्यक (सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, ध्यान, कायोत्सर्ग षड़ावश्यक) चारित्र धर्मानुगामी आलम्बन हैं । जिस प्रकार कोई पुरुष मजबूत सूत्र (रस्सी) आदि का आलम्बन लेकर विषम (ऊँचे) स्थान पर भी आरोहण कर लेता है, उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र (वाचना-पृच्छना आदि) का आलम्बन लेकर श्रेष्ठ धर्म ध्यान पर पहुँच जाता है ।

ध्यान के क्रम का वर्णन—

झाणप्पडिवत्तिकमो होइ मणोजोगनिग्गहाईओ ।
भवकाले केवलिणो सेसाण जहासमाहीए ।।44।।

केवली के भवकाल-शैलेषी अवस्था में शुक्ल ध्यान का प्रतिपत्ति क्रम इस प्रकार रहता है-पहले मनोयोग का निरोध, तदनन्तर वाक्योग का और अन्त में काययोग का निरोध होता है । शेष धर्म ध्यान करने वालों के लिए तो जिस प्रकार उन्हें समाधि होवे, वैसा करना अपेक्षित है ।

ध्यातव्य द्वार की प्ररूपणा—

आणा विजए अवाए, विवागे संठाणओ अ नायव्वा ।
एए चत्तारि पया, झायव्वा धम्मझाणस्स ।।45।।

धर्म ध्यान के ध्यातव्य चार प्रकार के जानने चाहिए-1. आज्ञा विचय, 2. अपाय विचय, 3. विपाक विचय तथा 4. संस्थान विचय ।

(यह गाथा कई मुद्रित ग्रन्थों में नहीं है और किसी ग्रन्थ में इस गाथा को अन्यकर्तृक मानकर इस गाथा की संख्या की गणना नहीं की गई है । **अभिधान राजेन्द्र कोश** में यह गाथा उपलब्ध है तथा हरिभद्र की संस्कृत टीका में इस गाथा का प्रसङ्ग तथा व्याख्या उपलब्ध होने से इसे अन्यकर्तृक मानना या इस गाथा को स्वीकार न करना उचित नहीं है । इस गाथा के जुड़ने से **ध्यानशतक** की कुल गाथा संख्या 107 हो जाती है ।)

आज्ञा विचय—

सुनिउणमणाइणिहणं भूयहियं भूयभावणमह (ण) ग्घं ।
अमियमजियं महत्थं महाणुभावं महाविसयं ।।46।।

झाइज्जा निरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईवाणं ।
अणिउणजणदुण्णेयं नय-भंग-पमाण-गमगहणं ।।47।।

जो सुनिपुण है, अनादि अनन्त है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, अनेकान्तात्मक होने से यथार्थ ग्राही के द्वारा सेवित है, अमूल्य है, परिमित है, अजेय है, महान् अर्थ वाली है, महान् सामर्थ्य से युक्त है, महान् विषय वाली है, निरवद्य है, अनिपुणमति के लिए दुर्ज्ञेय है, गहन है, नयभंग

तथा प्रमाण ज्ञाता द्वारा ग्राह्य है, ऐसी जगत् की प्रदीप स्वरूप जिन भगवान् की आज्ञा का आशंसा से मुक्त होकर ध्यान करना चाहिए जिससे धर्म ध्यान में स्थित हो सके। यह धर्म ध्यान का **'आज्ञाविचय'** नामक प्रथम प्रकार है।

जिनाज्ञा की यथार्थता—

तत्थ य मइदोब्बलेणं तव्विहायरियविरहओ वावि ।
णेयगहणत्तणेण य णाणावरणोदएणं च ।।48।।

हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वण्णुमयमवितहं तहावि तं चिंतए मइमं ।।49।।

अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जियराग-दोस-मोहा य णण्णहावादिणो तेणं ।।50।।

उपर्युक्त आज्ञा-जिनवाणी का निम्नलिखित कारणों से सम्यक् अवबोध नहीं होता है-(1) मति की दुर्बलता, (2) अध्यात्म विद्या के जानकार आचार्यों का अभाव, (3) ज्ञेय की गहनता, (4) ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म की तीव्रता, (5) हेतु का अभाव तथा (6) उदाहरण सम्भव न होना। इन कारणों से सर्वज्ञ प्रणीत अवितथ वचन का सम्यक् अवबोध नहीं होता। फिर भी बुद्धिमान् ध्याता, `सर्वज्ञ प्रतिपादित मत सत्य है', ऐसा समझे क्योंकि जगत् में श्रेष्ठ जिन-भगवान्, अनुपकारी जीवों पर भी अनुग्रह करने में तत्पर रहते हैं और उन्होंने राग, द्वेष और मोह पर विजय पा ली है, इसलिए वे अन्यथावादी (एवं अयथार्थवादी) नहीं हो सकते।

अपायविचय—

रागद्दोस-कसाया ऽऽसवादिकिरियासु वट्टमाणाणं ।
इह-परलोयावाओ झाइज्जा वज्जपरिवज्जी ।।51।।

हेय का त्यागी अप्रमत्त मुनि राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में प्रवर्तमान व्यक्तियों के इस लोक और परलोक सम्बन्धी दोषों व दु:खों का चिन्तन करें। यह धर्म ध्यान, जिससे धर्म ध्यान में स्थित हो सके, का **'अपायविचय'** नामक द्वितीय प्रकार है।

विपाकविचय—

पयइ-ठिइ-पएसा ऽणुभावभिन्नं सुहासुहविहत्तं ।
जोगाणुभावजणियं कम्मविवागं विचिंतेज्जा ।।52।।

जो प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग-इन चार भेदों से भिन्न है, जो शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है तथा जो योग (मन, वचन व काया की प्रवृत्ति) और अनुभाव (मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय) से उत्पन्न होता है ऐसे कर्म-विपाक का चिन्तन करना चाहिए । जिससे धर्म ध्यान में स्थित हो सके । यह धर्म ध्यान का **'विपाक विचय'** नामक तीसरा भेद (प्रकार) है ।

संस्थानविचय का स्वरूप—

जिणदेसियाइ लक्खण-संठाणा ऽऽसण-विहाण-माणाइं ।
उप्पायट्ठिइभंगाइ पज्जवा जे य दव्वाणं ।।53।।

पंचत्थिकायमइयं लोगमणाइणिहणं जिणक्खायं ।
णामाइभेयविहियं तिबिहमहोलोयभेयाइं ।।54।।

खिइ-वलय-दीव-सागर-नरय-विमाण-भवणाइसंठाणं ।
वोमाइपइट्ठाणं नियय लोगट्ठिइविहाणं ।।55।।

उवओगलक्खणमणाइनिहणमत्थंतरं सरीराओ ।
जीवमरूविं कारिं भोयं च सयस्स कम्मस्स ।।56।।

तस्स य सकम्मजणियं जम्माइजलं कसायपायालं ।
वसणसयसावयमणं मोहावत्तं महाभीमं ।।57।।

अण्णाण-मारुएरियसंजोग-विजोगवीइसंताणं ।
संसार-सागरमणोरपारमसुहं विचिंतेज्जा ।।58।।

अर्हत् जिनदेव के कहे हुए द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आसन (आधार या रहने का स्थान), विधान (जीव-पुद्गल आदि का भेद), परिमाण, उत्पाद, स्थिति (ध्रौव्य), व्यय (नाश) आदि पर्यायों ध्याता को चिन्तन करना चाहिए । जिन द्वारा लोक पाँच अस्तिकायमय अनादि, अनन्त (आदि-अन्त रहित),

नामादि निक्षेपों के भेद से अधो-लोक, तिर्यंचलोक और ऊर्ध्वलोक इन तीनों भेदों में विभक्त हैं। लोक के इस संस्थान का ध्याता को चिंतन करना चाहिए। पृथ्वी, वलय, घनोदक द्वीप, सागर, नरक, विमान, भवन आदि के संस्थानों का चिन्तन करना चाहिए एवं आकाश आदि पर प्रतिष्ठित नियत लोक स्थिति के विधान का भी चिन्तन करना चाहिए।

जीव उपयोग लक्षण वाला है, अनादि-अनन्त है, शरीर से भिन्न है, अरूपी है और स्वयं के कर्मों का कर्ता-भोक्ता है; ऐसे उस जीव के अपने कर्मों से उत्पन्न यह संसार-सागर जन्म-मरण के जल से भरपूर, कषाय, क्रोध, मान आदि सैकड़ों व्यसन (दु:ख) रूपी श्वापद मत्स्यों से युक्त, मोह रूपी आवर्त से युक्त अत्यन्त भयंकर, अज्ञान रुपी वायु से प्रेरित संयोग-वियोग रूपी तरंगों की सन्तति (प्रवाह) से युक्त, आर-पार रहित (अनादि-अनन्त) और अशुभ है- ऐसा चिन्तन करना चाहिए।

रत्नत्रय से संसार-समुद्र को पार करना सम्भव है—

तस्स य संतरणसहं सम्मद्दंसण-सुबंधणमणग्घं।
णाणमयकण्णधारं चारित्तमयं महापोयं ।।59।।

संवरकयनिच्छिइं तव-पवणाइद्धजइणतरवेगं।
वेरग्गमग्गपडियं विसोत्तियावीइनिक्खोभं ।।60।।

आरोढुं मुणि-वणिया महग्घसीलंग-रयणपडिपुन्नं।
जह तं निव्वाणपुरं सिग्घमविग्घेण पावंति ।।61।।

ऐसे संसार-सागर को पार करने में समर्थ वह चारित्र रूपी महान् नौका सम्यग्दर्शन के सुबन्धन से युक्त, अमूल्य, ज्ञानरूपी नाविक से सहित है। संवर युक्त होने से छिद्ररहित, तप रूपी पवन से प्रेरित होकर तीव्र गति से चलने वाली, वैराग्य मार्ग पर बढ़ने वाली और दुर्ध्यान की लहरों से भी निष्प्रकम्प है। मुनि रूपी वणिक्-व्यापारी महार्घ्य-बहुमूल्य शीलांगरत्नों से परिपूर्ण उस नौका पर आरूढ़ होकर शीघ्र ही, बिना किसी बाधा के, उस निर्वाणपुर को पा लेते हैं।

निर्वाण अक्षयसुख है—

तत्थ य तिरयणविणिओगमइयमेगंतियं निरावाहं ।
साभावियं निरुवमं जह सोक्खं अक्खयमुवेंति ।।62।।

निर्वाण प्राप्त कर वहाँ वे जीव तीन रत्नों के विनियोगमय, ऐकान्तिक, निराबाध, स्वाभाविक, निरुपम तथा अक्षय सुख को प्राप्त होते हैं ।

आत्म-स्वभाव के ध्यानी की श्रेष्ठता—

किं बहुणा ? सव्वं चिय जीवाइपयत्थवित्थरोवेयं ।
सव्वनयसमूहमयं झाइज्जा समयसब्भावं ।।63।।

अधिक क्या कहा जाये ? ध्याता जिनवाणी को ध्यान का विषय बनाये, जिसमें समस्त जीवादि-पदार्थों का सभी नयों (विचार-पक्षों) द्वारा विस्तार से वर्णन किया गया है ।

धर्म ध्यान के अधिकारी—

सव्वप्पमायरहिया मुणओ खीणोवसंतमोहा य ।
झायारो नाण-धणा धम्मज्झाणस्स निद्दिट्ठा ।।64।।

जो मुनि मद, विषय, कषाय, विकार आदि सभी प्रमादों से रहित हैं, जिनका मोह क्षीण या उपशान्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी मुनि धर्म ध्यान के अधिकारी कहे गये हैं ।

धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के ध्याता की विशेषताएं—

एएच्चियपुव्वाणं पुव्वधरा सुप्पसत्थसंघयणा ।
दोण्ह सजोगाजोगा सुक्काण पराण केवलिणो ।।65।।

धर्म ध्यान के अभ्यास में परिपक्व जो पूर्वधर और सुप्रशस्त (वज्र ऋषभ नाराच) संहनन वाले मुनि होते हैं वे ही शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारों- पृथक्त्व वितर्कस विचार तथा एकत्व वितर्क अविचार के ध्याता हो सकते हैं । सयोगी केवली के तीसरे प्रकार का सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान होता है तथा अयोगी केवली के चतुर्थ प्रकार का व्यवच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान होता है ।

मुनि के ध्यानमय जीवन का परिचय—

झाणोवरमेऽवि मुणी णिच्चमणिच्चाइभावणापरमो ।
होइ सुभावियचित्तो धम्मज्झाणेण जो पुव्वि ।।66।।

जिस मुनि का चित्त पहले से ही धर्म ध्यान से सुभावित है, वह ध्यान से उपरत होने पर भी नित्य-अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में संलग्न रहता है ।

धर्म ध्यानी की लेश्याओं का वर्णन—

होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्म-सुक्काओ ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मंदाइभेयाओ ।।67।।

धर्म ध्यान में स्थित ध्याता के ध्यान के समय पीत (तेज:), पद्म और शुक्ल-ये तीन लेश्याएँ क्रमश: विशुद्ध होती हैं । परिणामों के आधार पर वे तीव्र या मन्द होती हैं ।

धर्म ध्यान के लक्षण—

आगम-उवएसाऽऽणा-णिसग्गओ जं जिणप्पणीयाणं ।
भावाणं सद्दहणं धम्मज्झाणस्स तं लिंगं ।।68।।

आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग के अनुसार आचरण करने वाले की जो जिन-प्रतिपादित भावों (तत्त्वों, पदार्थों) में श्रद्धा है, वह धर्म ध्यान का लिङ्ग है । तात्पर्य यह है कि आगम रुचि, उपदेश रुचि, आज्ञा रुचि और निसर्ग रुचि-यह चार प्रकार की रुचि (श्रद्धा) धर्म ध्यान का लक्षण है ।

धर्म ध्यान का उपसंहार—

जिणसाहूगुणकित्तण-पसंसणा-विणय-दाणसंपण्णो ।
सुअ-सील-संजमरओ धम्मज्झाणी मुणेयव्वो ।।69।।

धर्म ध्यानी उसे जानना चाहिए जो जिन और साधु के गुणों का कीर्तन करता है, प्रशंसा करता है, दान देता है तथा श्रुत, शील और संयम में रत रहता है ।

शुक्ल ध्यान

अह खंति-मद्दवऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ ।
आलंबणाइँ जेहिं सुक्कज्झाणं समारुहइ ।।70।।

जिनमत में क्षमा, मृदुता, ऋजुता, निर्लोभता आदि गुणों की प्रधानता

है । इन आलम्बनों से मुनि शुक्ल ध्यान में आरूढ़ होता है ।

केवली के चित्तवृत्तिनिरोध का वर्णन—

तिहुयणविसयं कमसो संखिविउ मणो अणुंमि छउमत्थो ।
झायइ सुनिप्पकंपो झाणं अमणो जिणो होइ ।।71।।

मन का विषय तीनों लोक है । शुक्ल ध्यान में संलग्न छद्मस्थ मन को क्रमशः संक्षिप्त करता हुआ उसको अणु में स्थापित कर, निष्प्रकम्प होकर ध्यान करता है ।

केवली अमन (चित्तवृत्ति निरोधपूर्वक अन्तःकरण रहित अवस्थावाला) होता है, अतः उसके मानस नहीं होता, उसके केवल काय-चेष्टा निरोधात्मक ध्यान होता है ।

मन के निरोध की प्रक्रिया—

जह सव्वसरीरगयं मंतेण विसं निरुंभए डंके ।
तत्तो पुणोऽवणिज्जइ पहाणयरमंतजोगेणं ।।72।।
तह तिहुयण-तणुविसयं मणोविसं जोगमंतबलजुत्तो ।
परमाणुंमि निरुंभइ अवणेइ तओवि जिण-वेज्जो ।।73।।

व्याख्या : जिस प्रकार सारे शरीर में व्याप्त विष को मंत्र के द्वारा डसने के स्थान पर रोका जाता है, (उसे फैलने नहीं दिया जाता है) और उस डंक स्थान से प्रधानतर मंत्रयोग द्वारा (विष को) दूर कर दिया जाता है । उसी प्रकार से जिनेश्वर रूपी वैद्य तीनों लोकों के शरीर को विषय करने वाले मन रूपी विष को मंत्रयोग के बल से युक्त होकर परमाणु में निरुद्ध करता है और उस परमाणु से भी उस मन को हटा लेता है ।

उस्सारियेंधणभरो जह परिहाइ कमसो हुयासुव्व ।
थोविंधणावसेसो निव्वाइ तओऽवणीओ य ।।74।।
तह विसइंधणहीणो मणोहुयासो कमेण तणुयंमि ।
विसइंधणे निरुंभइ निव्वाइ तओऽवणीओ य ।।75।।

जिस प्रकार ईंधन के निकालते रहने पर अग्नि क्रमशः क्षीण होती जाती है और थोड़ा ईंधन रह जाने पर वह अग्नि ज्वालारहित हो जाती है;

तत्पश्चात् अल्प ईंधन को निकाल देने पर वह बुझ जाती है । उसी प्रकार विषयरूपी ईंधन से परिहीन मन रूपी अग्नि क्रमशः क्षीण हो जाती है । थोड़े-से विषय-ईंधन के रहने पर वह मन-अग्नि निरुद्ध हो जाती है तथा पूर्णतः विषय ईंधन समाप्त हो जाने पर वह मन रूपी अग्नि बुझ जाती है, विलीन हो जाती है ।

मन-वचन-काय की स्थिरता से शैलेषी अवस्था का वर्णन करते हैं–

तोयमिव नालियाए तत्तायसभायणोदरत्थं वा ।
परिहाइ कमेण जहा तह जोगिमणोजलं जाण ।।76।।

एवं चिय वयजोगं निरुंभइ कमेण कायजोगंपि ।
तो सेलेसोव्व थिरो सेलेसी केवली होइ ।।77।।

जिस प्रकार नालिका का (बहता) जल अथवा तपे हुए लोहे के पात्र में डाला हुआ जल क्रमशः बहकर या सूखकर क्षीण होता जाता है उसी प्रकार शुक्ल ध्यान में लीन योगी का मन रूपी जल भी क्रमशः क्षीण होता जाता है । योगी अमन हो जाता है । इसी प्रकार क्रमशः वचन-योग और काय-योग का भी निरोध करता है और केवली मेरु पर्वत की भाँति स्थिर होकर शैलेषी अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।

पृथक्त्व वितर्क सविचार का निरूपण करते हैं–

उप्पाय-ट्ठिइ-भंगाइपज्जयाणं जमेगवत्थुंमि ।
नाणानयाणुसरणं पुव्वगयसुयाणुसारेणं ।।78।।

सवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं ।
होइ पुहुत्तवितक्कं सवियारमरागभावस्स ।।79।।

जो एक वस्तु में उत्पाद, स्थिति और व्यय आदि पर्यायों (गुण-पर्यायों) का विभिन्न नयों (द्रव्यार्थिक नय से स्थिति और पर्यायार्थिक नय से उत्पाद और व्यय) के आश्रय से पूर्वगत श्रुत के अनुसार अर्थ-व्यंजन-योग भेदपूर्वक विचार होता है, वह राग-द्वेषरहित ध्याता के पृथक्त्व वितर्क विचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान होता है ।

एकत्व-वितर्क-अविचार का निरूपण करते हैं–

जं पुण सुणिप्पकंपं निवायसरणप्पईवमिव चित्तं ।
उप्पाय-ठिइ-भंगाइयाणमेगंमि पज्जाए ।।80।।
अवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ तयं बितियसुक्कं ।
पुव्वगयसुयालंबणमेगत्तवितक्कमवियारं ।।81।।

वायुरहित प्रदेश में रखे हुए निष्कम्प लौ वाले दीपक के समान जो चित्त उत्पाद, स्थिति और लय में से किसी एक पर्याय में स्थिर हो, निष्कम्प होता है; जो अविचार होकर पूर्वगत श्रुत का आश्रय लेने वाला होता है, वह अर्थ-व्यञन और योग के विचार से रहित होने के कारण एकत्व-वितर्क-अविचार नामक द्वितीय शुक्ल ध्यान है । इस ध्यान में ध्येय के अर्थ-व्यञन-योग का भेद नहीं रहता है ।

सूक्ष्म-क्रियाऽनिवृत्ति तथा व्यवच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान का निरूपण करते हैं—

निव्वाणगमणकाले केवलिणो द्वयनिरुद्धजोगस्स ।
सुहुमकिरियाऽनियट्टिं तइयं तणुकायकिरियस्स ।।82।।
तस्सेव य सेलेसीगयस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स ।
वोच्छिन्नकिरियमप्पडिवाइज्झाणं परमसुक्कं ।।83।।

मोक्षगमन के प्रत्यासन्न काल में केवली के मन और वचन, दोनों योगों की प्रवृत्ति निरुद्ध हो जाती है, किन्तु उच्छ्वास निःश्वास रूप काया की सूक्ष्म क्रिया वर्तमान रहती है (शेष रहती है) । यह शुक्ल ध्यान का **'सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति'** नामक तृतीय प्रकार है ।

शैलेषी अवस्था को प्राप्त केवली सुमेरु पर्वत की भाँति निष्प्रकम्प हो जाता है । उसके यह शुक्ल ध्यान का **'व्यवच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती'** चतुर्थ प्रकार है । यह परमशुक्ल ध्यान है ।

व्यवच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान के भेदों में त्रिविध योगों की स्थिति का निरूपण करते हैं—

पढमं जोगे जोगेसु वा मयं बितियमेयजोगंमि ।
तइयं च कायजोगे सुक्कमजोगंमि य चउत्थं ।।84।।

शुक्ल ध्यान के प्रथम प्रकार में एक ही योग या तीनों योग विद्यमान रह सकते हैं। शुक्ल ध्यान के द्वितीय प्रकार में तीन योगों में से कोई एक योग विद्यमान रहता है। शुक्ल ध्यान के तृतीय प्रकार में केवल एक काययोग ही विद्यमान रहता है तथा चतुर्थ प्रकार में कोई योग नहीं रहता, वह अयोगी को ही प्राप्त होता है।

छद्मस्थ और केवली के ध्यान की विशेषता बताते हैं—

जह छउमत्थस्स मणो झाणं भण्णइ सुनिच्चलो संतो।
तह केवलिणो काओ सुनिच्चलो भन्नए झाणं ।।85।।

जिस प्रकार छद्मस्थ के मन का निश्चल होना ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार केवली के काया का निश्चल होना ध्यान कहा जाता है।

केवली के चित्त का अभाव होने पर भी ध्यान होने के कारण प्रस्तुत करते हैं—

पुव्वप्पओगओ चिय कम्मविणिज्जरणहेउतो यावि।
सद्दत्थबहुत्ताओ तह जिणचंदागमाओ य ।।86।।
चित्ताभावेवि सया सुहुमोवरयकिरियाइ भण्णंति।
जीवोवओगसब्भावओ भवत्थस्स झाणाइं ।।87।।

संसारस्थ सयोगी या अयोगी केवली के चित्त का अभाव होने पर भी जीव का उपयोग रहता ही है, अतः उनका शुक्ल ध्यान सूक्ष्म और उपरतक्रिय अन्तिम दो प्रकार का कहलाता है। उनमें ध्यान का अस्तित्व मानने के चार कारण हैं–

1. जीव के पूर्व प्रयोग के कारण
2. कर्मों की निर्जरा के कारण
3. (ध्यान) शब्द के अनेक अर्थों के कारण
4. जिन-प्रणीत आगम प्रमाण होने के कारण।

शुक्ल ध्यान का उपसंहार करते हैं—

सुक्कज्झाणसुभावियचित्तो चिंतेइ झाणविरमेऽवि।
णिययमणुप्पेहाओ चत्तारि चरित्तसंपन्नो ।।88।।

आसवदारावाए तह संसारासुहाणुभावं च ।
भवसंताणमणन्तं वत्थूणं विपरिणामं च ।।89।।

शुक्ल ध्यान से समाहित (सुभावित) चित्तवाला, चारित्र से युक्त ध्याता ध्यान के समापन के उपरान्त भी सदा निम्न चार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है–

1. आस्त्रवों के अपाय का चिन्तन
2. संसार के अशुभ-अनुभाव का चिन्तन
3. भवसन्तति की अनन्तता का चिन्तन
4. वस्तुओं के विपरिणाम का चिन्तन ।

शुक्ल ध्यान और लेश्या का सम्बन्ध बताते हैं—

सुक्काए लेसाए दो ततियं परमसुक्कलेस्साए ।
थिरयाजियसेलेसिं लेसाईयं परमसुक्कं ।।90।।

शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारों में शुक्ल लेश्या और तृतीय प्रकार में परम शुक्ल लेश्या होती है । शुक्ल ध्यान का चतुर्थ प्रकार लेश्यातीत होता है । वह ध्याता स्थिरता में मानों शैलेष पर्वत को भी जीतने वाला अर्थात् सुमेरु पर्वत से भी निष्प्रकम्पतर होने के कारण उसका ध्यान परमशुक्ल होता है ।।

शुक्ल ध्यान के लिंगों का निर्देश करते हैं—

अवहाऽसंमोह-विवेग-विउसग्गा तस्स होंति लिंगाइं ।
लिंगिज्जइ जेहिं मुणी सुक्कज्झाणोवगयचित्तो ।।91।।
चालिज्जइ बीभेइ य धीरो न परीसहोवसग्गेहिं ।
सुहुमेसु न संमुज्झइ भावेसु न देवमायासु ।।92।।
देहविवित्तं पेच्छइ अप्पाणं तह य सव्वसंजोगे ।
देहोवहिवोसग्गं निस्संगो सव्वहा कुणइ ।।93।।

शुक्ल ध्यानोपगत चित्तवाले (शुक्ल ध्यान में जिसका चित्त निरुद्ध हो गया है ऐसे) धीर मुनि की पहचान के ये चार लक्षण हैं-1. अव्यथा, 2. असम्मोह, 3. विवेक, और 4. व्युत्सर्ग ।

1. अव्यथा-परीषह और उपसर्गों से न डरना, चलायमान न होना ।

2. असम्मोह-अत्यन्त गहन सूक्ष्म भावों तथा देवमाया से सम्मोहित नहीं होना ।

3. विवेक-निज आत्मा को शरीर तथा सभी संयोगों से भिन्न मानना ।

4. व्युत्सर्ग-अनासक्त होकर देह और उपाधि का सर्वथा त्याग करना ।

धर्म ध्यान के फल का निर्देश करते हैं—

होंति सुहासव-संवर विणिज्जराऽमर सुहाइं विउलाइं ।
झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ।।94।।

उत्तम धर्म ध्यान के ये फल हैं-शुभ-आस्रव, पुण्य, संवर, निर्जरा और देव सुख । ये सभी दीर्घस्थिति, विशुद्धि और उपपात से विस्तीर्ण तथा शुभानुबन्धी फलों की प्राप्ति कराने वाले होते हैं ।

शुक्ल ध्यान का चरम फल मोक्ष प्रस्तुत करते हैं—

ते य विसेसेण सुभासवादओऽणुत्तरामरसुहं च ।
दोण्हं सुक्काण फलं परिनिव्वाणं परिल्लाणं ।।95।।

पूर्वोक्त गाथा द्वारा कथित शुभास्रव, संवर, निर्जरा की विशेष प्राप्ति तथा अनुत्तर विमानवासी देवों का सुख मिलना-यह शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकारों का फल है और अन्तिम दो प्रकार के शुक्ल ध्यान का फल परिनिर्वाण प्राप्ति है ।

ध्यान को मोक्ष का हेतु बताते हैं—

आसवदारा संसारहेयवो जं ण धम्म-सुक्केसु ।
संसारकारणाइ तओ धुवं धम्मसुक्काइं ।।96।।

संवर-विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो पहोतासिं ।
झाणं च पहाणंगं तवस्स तो मोक्खहेऊयं ।।97।।

पहले गाथा 94 में धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान का फल शुभास्रव, संवर और निर्जरा कहा है । इस गाथा में कहा है कि धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान में वे आस्रव, जो संसार के कारण हैं, वे नहीं होते तथा धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु हैं । इससे यह फलित है कि शुभ (पुण्य) आस्रव और शुभ (पुण्य)

कर्मों का बन्ध संसार-भ्रमण का कारण नहीं है अपितु मोक्ष का कारण है। शुभ आस्रव-शुभ (पुण्य) बन्ध, कषाय की क्षीणता (घटने) से होता है। कषाय ही संसार का कारण है; कषाय का घटना मुक्ति की ओर अग्रसर करना है। शुभ (पुण्य) अघाति होते हैं, अतः इनसे जीव के किसी गुण की हानि कभी नहीं होती है।

ध्यान कर्ममल का अपनयन करता है, यह स्पष्ट करते हैं—

अंबर-लोह-महीणं कमसो जह मल-कलंक-पंकाणं ।
सोज्झावणयण-सोसे साहेंति जलाऽणलाऽऽइच्चा ।।98।।
तह सोज्झाइसमत्था जीवंबर-लोह-मेइणिगयाणं ।
झाण-जलाऽणल-सूरा कम्म-मल-कलंक-पंकाणं ।।99।।

जिस प्रकार पानी वस्त्र पर लगे मैल को धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप मैल को धोकर उसे शुद्ध कर देता है, जिस प्रकार अग्नि लोहे पर लगे कलंक (जंग आदि) को दूर कर देती है उसी प्रकार ध्यान जीव से संबद्ध कर्मरूप कलंक को पृथक् कर देने वाला है, तथा जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी के कीचड़ को सुखा देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप कीचड़ को सुखा देने वाला है।

ध्यान से त्रिविध योगों के शोधनपूर्वक कर्मशोधन को प्रस्तुत करते हैं—

तापो सोसो भेओ जोगाणं झाणओ जहा नियय ं ।
तह ताव-सोस-भेया कम्मस्स वि झाइणो नियमा ।।100।।

जिस प्रकार ध्यान से (मन, वचन, काया के) योगों का ताप (सुखाना) तथा शोषण (कृश करना) और भेदन (विदारण) नियम से होता है उसी प्रकार ध्यान से ध्याता के कर्मों का भी ताप-शोषण और भेदन अवश्य होता है।

ध्यान से कर्माशय शमन को सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

जह रोगासयसमणं विसोसण विरेयणोसहविहीहिं ।
तह कम्मासयसमणं झाणाणसणाइजोगेहिं ।।101।।

जिस प्रकार रोगाशय (रोग के निदान) की चिकित्सा, विशोषण और

विरेचन औषध के विधान से होती है उसी प्रकार कर्माशय का शमन ध्यान तथा अनशनादि तप योगों से होता है ।

ध्यान से सञ्चित कर्मक्षय होने का निरूपण करते हैं—

जह चिरसंचियमिंधणमनलो पवणसहिओ दुयं दहइ ।
तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणाणलो डहइ ।।102।।

जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि दीर्घकाल से संचित ईंधन को शीघ्र ही जला देती है उसी प्रकार ध्यानरूप अग्नि दीर्घकाल के संचित कर्मरूप ईंधन को क्षणभर में भस्म कर देती है ।

ध्यान में कर्मों को विलीन करने का सामर्थ्य है—

जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।
झाण-पवणावहूया तह कम्म-घणा विलिज्जंति ।।103।।

जिस प्रकार पवन से आहत बादलों का समूह क्षणभर में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ध्यानरूपी वायु से अवधूत अर्थात् विघटित होकर कर्मरूपी मेघ भी विलीन हो जाते हैं-क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं ।

ध्यान से मानसिक दु:ख का अभाव प्रस्तुत करते हैं—

न कसायमुत्थेहि य बाहिज्जइ माणसेहिं दुक्खेहिं ।
ईसा-विसाय-सोगाइएहिं झाणोवगयचित्तो ।।104।।

जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है वह व्यक्ति क्रोधादि कषायों से उत्पन्न होने वाले ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि मानसिक दु:खों से पीड़ित नहीं होता ।

ध्यान से शारीरिक दु:ख का अभाव प्रस्तुत करते हैं—

सीयाऽऽयवाइएहि य सारीरेहिं सुबहुप्पगारेहिं ।
झाणसुनिच्चलचित्तो न ब (बा) हिज्जइ निज्जरापेही ।।105।।

जिसका चित्त ध्यान के द्वारा अतिशय स्थिर हो गया है, वह मुनि कर्मनिर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ शीत व उष्ण आदि बहुत प्रकार के शारीरिक दु:खों से पीड़ित नहीं होता ।

ग्रन्थकार जिनभद्र क्षमाश्रमण ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए ग्रन्थ के महत्त्व तथा ग्रन्थ प्रमाण का निर्देश करते हैं—

इय सव्वगुणाधाणं दिट्ठादिट्ठासुहसाहणं झाणं ।
सुपसत्थं सद्धेयं नेयं ज्ञेयं च निच्चंपि ।।106।।

पंचत्तुरेण गाहासएण झाणस्स यं (जं) समक्खायं ।
जिणभद्दखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो ।।107।।

इस प्रकार ध्यान सभी गुणों का आधार है तथा दृष्ट और अदृष्ट सुखों का साधन है, अतिशय प्रशस्त है, श्रद्धेय है, ध्येय है, ज्ञेय है और उसका चिन्तन करना चाहिए ।

जिनभद्र क्षमाश्रमण ने यति की कर्मविशुद्धि करने वाले ध्यान के अध्ययन को एक सौ पाँच गाथाओं द्वारा कहा है ।

(महोपाध्याय **श्री यशोविजयजी म.सा.** द्वारा विरचित
'अध्यात्म सार' ग्रंथ के 16 वे ध्यान अधिकार का संक्षिप्त विवेचन
अनुवाद एवं विवेचन : सा. डॉ. प्रीतिदर्शनाश्रीजी म.
संपादक : डॉ. सागरमल जैन साभार-स्वीकार)

अध्यात्मसार ग्रंथ का सोलहवाँ ध्यान-अधिकार

स्थिरमध्यवसानं यत् तद् ध्यानं चित्तमस्थिरम् ।
भावना चाप्यनुप्रेक्षा चिन्ता वा तत्त्रिधा मतम् ।।1।।

अनुवाद :- जो स्थिर अध्यवसाय है, वह ध्यान है । अस्थिर चित्त के भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता इस तरह तीन प्रकार कहे गए हैं ।

विशेषार्थ :- यहाँ ग्रंथकार ध्यान का स्वरूप समझाते हैं । चित्त का भ्रमण, चित्त की गतिविधियाँ, चित्त की भागदौड़ सर्वाधिक है । मन की चंचलता को रोकना, मन को संयम में रखना अत्यंत कठिन है । जैसे आकाश में विचरण करते हुए वायु को कोई मुट्ठी में बाँध नहीं सकता, ऐसे ही इस मन को कोई पकड़ नहीं सकता । इसका निग्रह करना महान् दुष्कर है ।

मन को एक विषय में स्थिर रखने के लिए सतत अभ्यास करने की आवश्यकता है । अभ्यास और वैराग्य से मन को वश में किया जा सकता है ।

मन के व्यापार को दो भागों में बाँट सकते हैं । मन को जब एक ही विषय में एकाग्र किया जाता है, तो वह ध्यान है और जब मन एक विषय से दूसरे, तीसरे पर दौड़ता है, अस्थिर रहता है तब वह चित्त है । पुनः चित्त के तीन भेद किए गए है-1. भावना, 2. अनुप्रेक्षा, 3. चिंता ।

जिसमें मन भावित होता है, उसे भावना कहते हैं । जैनधर्म भावप्रधान धर्म है । भावना पर ही हमारा उत्थान और पतन निर्भर है । शुभ भावों से भावित मन आत्मिक-विकास में सहायक होता है, जबकि अशुभ भावों से भावित मन आत्मा को पतन की ओर ले जाता है । **'खाली मन शैतान का घर'** मन को कभी-भी खाली नहीं रखना चाहिए । अगर उसे अच्छे विषयों से नहीं

जोड़ा गया , तो वह ऐन्द्रिय-विषयभोगों की ओर दौड़ जातै है ।

अनु अर्थात् पीछे से, प्रेक्षा अर्थात् देखना या दर्शन । किसी भी विषय का अभ्यास किया हो, तो याद करके फिर चिंतन करना अनुप्रेक्षा है । अनुप्रेक्षा ध्यान के लिए उपकारक है । ध्यान जब टूट जाता है और चित्त जब अनुप्रेक्षा में लग जाता है, तो पुनः मन को ध्यान में जोड़ सकते हैं । अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं को बारह अनुप्रेक्षा भी कहते हैं । अनुप्रेक्षा और भावना- दोनों शब्दों में अत्यंत समीपता है ।

चिंता अर्थात् भावना और अनुप्रेक्षा के अलावा चित्त की अस्थिर अवस्था । इस अवस्था में चित्त शरीर, पुत्र, परिवार, व्यापार, धन आदि में दौड़ जाता है या धार्मिक-विषयों के प्रश्नों में उलझ जाता है ।

मुहूर्तान्तर्भवेद् ध्यानमेकार्थे मनसः स्थितिः ।
बद्धार्थसंक्रमे दीर्घाप्यछिन्ना ध्यानसंततिः।।2।।

अनुवादः- एक ही विषय में मन को अंतर्मुहूर्त तक स्थिर रखना ध्यान है । बहुत विषयों में संक्रमण करती हुई या घूमती हुई दीर्घ और अविच्छिन्न जो स्थिति है, वह ध्यान की श्रेणी है ।

विशेषार्थ :- जिसका मन वश में है, वह मन को जहाँ लगाना चाहे, वहाँ लगा सकता है, जितनी देर लगाना चाहे, उतनी देर लगा सकता है और जहाँ से हटाना चाहे, वहाँ से हटा सकता है । किसी भी एक पदार्थ के किसी एक भाव पर चित्त को केन्द्रित करना ध्यान कहलाता है । जिसमें सातत्य नहीं हो और एक विषय से मन दूसरे विषय पर चला जाता हो- ऐसी विविध स्थिति को चिंता, भावना, अनुप्रेक्षा आदि शब्दों से पहचान सकते हैं ।

मन एक विषय पर कितने समय तक ठहर सकता है, यह ध्यान करने वाले के अभ्यास पर निर्भर है, फिर भी छद्मस्थ व्यक्ति अधिक-से-अधिक अंतर्मुहूर्त तक ध्यान कर सकता है । छद्मस्थ के ध्यान में अंतर्मुहूर्त के बाद अवश्य परिवर्तन होता है, चाहे वह परिवर्तन सूक्ष्म हो, मन एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर चला जाए । उस प्रकार सूक्ष्म परिवर्तन के साथ एकाग्रता एक ही विषय पर दीर्घकाल तक रह सकती है । अंतर्मुहूर्त अर्थात् मुहूर्त के अंदर एक मुहूर्त दो घड़ी का होता है और दो घड़ी में 48 मिनट होते हैं, अतः 48 मिनट के अन्दर की अवधि । 2 समय से लेकर 48 मिनिट में एक समय कम

अंतर्मुहूर्त कहलाता है । काल का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अविभाज्य अंश समय कहलाता है । एक पलक झपकने में तो असंख्य समय पसार हो जाता है ।

व्यक्ति अगर पूरे दिन एक आसन पर ध्यान में बैठने की इच्छा करे, तो वह बैठ सकता है, परंतु अतर्मुहूर्त के बाद उसका ध्यान टूट जाता है, लेकिन खंडित हुआ ध्यान उसी विषय में या अन्य विषय में पुनः जुड़ सकता है । इस प्रकार दो ध्यानों के मध्य का काल ध्यानान्तरिका कहलाता है । ध्यानान्तरिका के साथ लंबे समय तक चलते हुए ध्यान को ध्यान की श्रेणी या ध्यानधारा कहते हैं ।

आर्तं रौद्रं च धर्मं च शुक्लं चेति चतुर्विधम् ।
तत् स्याद् भेदाविह द्वौ द्वौ कारणं भवमोक्षयोः ।।3।।

अनुवाद :- (ध्यान के) आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल चार प्रकार हैं । इनमें दो भेद संसार के और दो भेद मोक्ष के कारण हैं ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में ध्यान के चार भेद बताए गए हैं । इनमें से आर्तध्यान और रौद्रध्यान-दो अशुभ हैं और भवभ्रमण में वृद्धि करने वाले हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान दो शुभ हैं और मोक्ष के हेतुभूत कहे गए हैं ।

आर्त शब्द ऋत् से बना है । ऋत्, अर्थात् दुःख । दुःख के निमित्त या दुःख में होने वाला ध्यान आर्तध्यान है, अथवा दुःखी प्राणी का ध्यान आर्तध्यान है, अथवा मनोज्ञ वस्तु के वियोग और अमनोज्ञ वस्तु के संयोग के कारण से होने वाला चित्तविक्षोभ आर्तध्यान है । आर्तध्यान की स्थिति में यदि व्यक्ति की आयुष्य का बंध हो जाता है, तो जीव बहुधा तिर्यंचगति में जाता है । क्रूर और कठोरवृत्ति के व्यक्ति की हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसंरक्षण के लिए जो सतत चित्तप्रवृत्ति होती है, वह रौद्रध्यान है । जब व्यक्ति रौद्रध्यान की स्थिति में हो और उस समय आयुष्य का बंध हो, तो वह नरकगति के आयुष्य का बंध करता है । आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों दुर्गति में ले जाने वाले हैं, संसार की वृद्धि कराने वाले हैं ।

श्रुतधर्म और चारित्रधर्म के संबंध में सतत चिंतन धर्मध्यान कहलाता है । तत्त्वसंबंधी विचारणा, हेयोपादेय संबंधी विचारधारा तथा देव-गुरु-धर्म की स्तुति आदि भी धर्मध्यान के अंग हैं । शुभ परिणाम होने से धर्मध्यान की स्थिति में जीव को शुभ आयुष्य का बंध होता है, देवगति प्राप्त होती है और

परंपरा से मोक्ष प्राप्त होता है ।

जो आत्मा के आठ कर्मरूपी मैल को धोकर उसे स्वच्छ धवल बना देता है, वह शुक्लध्यान है । इस ध्यान के प्रभाव से कर्म क्षीण हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है ।

उपर्युक्त चारों ध्यानों में से आर्त और रौद्रध्यान हेय हैं, छोड़ने योग्य हैं और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्ष के हेतु होने से उपादेय हैं, आदरने योग्य हैं ।

शब्दादीनामनिष्टानां वियोगासंप्रयोगयोः ।
चिन्तनं वेदनायाश्च व्याकुलत्वमुपेयुषः ।।4।।

अनुवाद :- अनिष्ट शब्द आदि के वियोग का और अप्राप्ति का तथा वेदना की व्याकुलता का चिंतन करना ।

विशेषार्थ :- दुःख की उत्पत्ति के मुख्य चार कारण हैं । उनमें से प्रथम दो प्रकारों का निर्देश यहाँ किया गया है । ये प्रकार हैं- (1) अनिष्टवियोगचिंता (2) रोग-चिंता । अमनोज्ञ वस्तु के संयोग होने पर दुःख से व्याकुल आत्मा उसे दूर करने के लिए सतत चिंतन करती है । यह अनिष्ट-वियोग की चिंतारूप आर्तध्यान है । प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि अनचाही वस्तु का संयोग न हो । अनिष्ट का संयोग होने पर मनुष्य आकुल-व्याकुल हो जाता है और कब इस प्रतिकूल व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति से छुटकारा प्राप्त हो, इसकी सतत चिंता उसे बनी रहती है । विद्यमान दुःख को न चाहने का, दूर करने का भाव द्वेष है और सुख को चाहने का, सुख बनाए रखने का भाव राग है । राग-द्वेष ही दुःख के कारण हैं । अनिष्ट के वियोग की चिंता कभी-कभी इतनी ज्यादा हो जाती है कि चित्त सतत उसका ही चिंतन करता रहता है, इसलिए उसे ध्यान कहा गया है ।

दूसरे प्रकार का आर्तध्यान रोग की चिन्ता करना है । शारीरिक या मानसिक-पीड़ा होने पर उसके निवारण की व्याकुलतापूर्वक चिंता करना रोगचिंता आर्तध्यान है । उस रोग का वियोग कैसे हो, इसकी निरन्तर चिंता करता रहता है । यदि किसी को कोई रोग नहीं है, तब भी उसे, कभी भी कोई रोग हो सकता है-यह भय सदा ही बना रहता है । भय का दुःख वास्तविक दुःख से भी अधिक भयंकर होता है । मानव-जीवन का हर क्षेत्र अनेक दुःखों

से ग्रस्त तथा त्रस्त है । उन दु:खों से मन को जोड़ लेना, उनसे द्वेष रखना, उनको दूर करने की सतत चिंता करना आर्त्तध्यान है ।

इष्टानां प्रणिधानं च संप्रयोगावियोगयो: ।
निदानचिन्तनं पापमार्त्तमित्थं चतुर्विधम् ।।5।।

अनुवाद :- इष्ट के संयोग और अवियोग का चिंतन (प्रणिधान) तथा निदान का चिंतन करना इस प्रकार पापमय आर्त्तध्यान चार प्रकार का है ।

विशेषार्थ :- पूर्व के श्लोक में आर्त्तध्यान के चार प्रकारों में से दो को बताया गया है । प्रस्तुत में शेष दो प्रकारों का निर्देश किया गया है । तीसरे प्रकार का आर्त्तध्यान इष्ट के संयोग और वियोग का है और चौथा प्रकार निदान है ।

जिस प्रकार अनिष्ट के संयोग-वियोग की चिंता बनी रहती है, उसी प्रकार इष्ट के संयोग-वियोग की चिंता भी बनी रहती है । मनचाहे शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गंध आदि विषय-ऐसे विषयों का आनंद देने वाले पदार्थ या प्रिय व्यक्ति हमेशा अपने पास ही रहें, उनका कभी वियोग न हो । इस प्रकार का चिंतन करना ही आर्त्तध्यान है । सुख के प्रति तीव्र राग के कारण मनुष्य को इस प्रकार का आर्तध्यान होता है । यह स्थिति भौतिक-पदार्थों से सुख-प्राप्ति के इच्छुक सभी व्यक्तियों की है ।

आर्तध्यान का चौथा प्रकार निदान-चिंतन है । निदान, अर्थात् इष्ट फल की प्राप्ति का संकल्प करना । मनुष्य द्वारा अपने तप-त्याग, संयम, सेवा, साधना आदि के बदले में अमुक वस्तु की मुझे प्राप्ति हो, अमुक व्यक्ति का संयोग हो आदि अभिलाषा करना निदानचिंतन है । देवगति के सुख, चक्रवर्ती के सुख, सुंदर प्रिय पात्र का संयोग, कामभोग की प्राप्ति आदि अपनी तपस्या के बदले में मनुष्य मांग लेता है । अगर उत्कृष्ट तप हो, तो प्राय: उसको इच्छा के अनुरूप फल मिल जाता है, परंतु यह भी एक प्रकार का अशुभ ध्यान है ।

पोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र संभव: ।
अनतिक्लिष्टभावानां कर्मणां परिणामत: ।।6।।

अनुवाद :- अति क्लिष्ट नहीं, अर्थात् कम क्लिष्ट भावों के कर्मों के

परिणामस्वरूप यहाँ कापोत, नील और कृष्ण-लेश्या संभव है ।

विशेषार्थ :- आर्तध्यान से अनुरंजित व्यक्ति की लेश्या किस प्रकार की होती है, उसका यहाँ निर्देश किया गया है । लेश्या अर्थात् मन के परिणाम । जीव के बदलते हुए परिणामों या मनाभावों और उनके आधार पर कर्मवर्गणाओं से बने हुए आभामण्डल को लेश्या कहते हैं । मनोभावों को भावलेश्या और कर्मवर्गणा से निर्मित व्यक्ति के आभामण्डल को द्रव्यलेश्या कहा जा सकता है । मनोभाव शुभ या अशुभ दो प्रकार के होते हैं । इन मनोभावों की तरतमता के आधार पर जैनदर्शन में छह लेश्याएँ मानी गई हैं–

(1) कृष्णलेश्या (काले रंग की) (2) नीललेश्या (नीले रंग की) (3) कापोतलेश्या (कबूतर के पंख जैसे रंग की) (4) पीत या तेजोलेश्या (पीले रंग की) (5) पद्मलेश्या (गुलाबी रंग की) (6) शुक्ललेश्या (श्वेत रंग की) । इनमें से प्रारंभ की तीन लेश्या अशुभ हैं और शेष तीन लेश्याएँ शुभ हैं । लेश्या मन के अध्यवसाय पर आधारित है । लेश्या में मंदता और तीव्रता आती है । कृष्ण-लेश्या में सबसे अधिक क्लिष्ट परिणाम रहते हैं, जबकि अंतिम शुक्ललेश्या सर्वश्रेष्ठ होती है । कृष्ण अर्थात् अंधकार, काला । काला रंग कलुषता का परिचायक है । आर्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान होने से ऐसा ध्यान करने वालों को कापोत, नील और कृष्णलेश्या होती हैं ।

कृष्णलेश्या वाला व्यक्ति अधिक क्रोधी तथा हिंसक होता है । नीललेश्या वाला व्यक्ति स्वार्थसिद्धि में सजग, ईर्ष्यालु, कदाग्रही, प्रमादी, रसलोलुपी, निर्लज्ज होता है ।

कापोतलेश्या वाला व्यक्ति अत्यधिक हँसने वाला, दुष्ट वचन बोलने वाला, अतिशोकाकुल, अतिभयभीत, आत्मप्रशंसक, परनिंदक तथा शीघ्र रुष्ट होने वाला होता है ।

आर्तध्यानी में कम या अधिक मात्रा में इस प्रकार के भाव बने रहते हैं, अतः उसमें दुर्गति प्रदान करने वाली अशुभ लेश्या की ही प्रधानता होती है ।

क्रंदनं रुदनं प्रोच्चैः, शोचनं परिदेवनम् ।
ताडनं लुञ्चनं चेति लिंगान्यस्य विदुर्बुधाः ।।7।।

अनुवाद :- क्रंदन अर्थात् अश्रुप्रवाहित करते हुए जोर-जोर से रोना-चिल्लाना, उच्च स्वर से रुदन करना, शोक करना, दीनतायुक्त रुदन,

स्वयं को पीटना, बाल खींचना ये इसके (आर्तध्यान के) चिह्न हैं । इस प्रकार ज्ञानी कहते हैं ।

विशेषार्थ :- जिसका आर्त्तध्यान अत्यंत तीव्र बन गया हो, ऐसे व्यक्ति द्वारा कितनी ही चेष्टाएँ अनायास हो जाती हैं । जब इष्ट-वियोग के कारण या अनिष्ट-संयोग के कारण उसका स्वयं का दु:ख उसके हृदय में समाता नहीं है, तब वह व्यक्ति रोने लगता है । वह अश्रुओं द्वारा अपने दु:ख को व्यक्त करता है । व्यक्ति एकान्त में जाकर रोता है । कोई व्यक्ति दूसरों की उपस्थिति में जोर-जोर से रोता है, चिल्लाता है । किसी के सहानुभूतिपूर्ण वचन सुनकर किसी को और अधिक रोना आ जाता है ।

आर्तध्यानी के कुछ लक्षणों का निर्देश प्रस्तुत श्लोक में किया गया है । क्रंदन अर्थात् आँख से सतत अश्रु प्रवाहित होना । रुदन अर्थात् उच्च स्वर से लंबे आवाज के साथ रोना । शोचन अर्थात् शोक करना, गुमसुम हो जाना तथा गहरी चिंता में डूब जाना । परिदेवन अर्थात् विलाप करना, स्वयं को ही मारना, सिर कूटना, हाथ-पैर पछाड़ना, व्याकुलतापूर्वक लोटना । लुंचन, अर्थात् आवेग में आकर अपने सिर के बाल खींचना । ये सब आर्तध्यान के चिह्न हैं, जो अनुभवी बुद्धिमानों ने निर्धारित किए हैं । कभी इनमें से एक दो लक्षण ही दिखाई देते हैं, फिर भी वह आर्तध्यान के अंतर्गत ही आता है । कितने ही व्यक्ति अपने आर्तध्यान को दबाकर रखते हैं, बाह्य-लक्षणों को प्रकट नहीं होने देते हैं, वस्तुत:, जहाँ अहं तथा मम के भाव की क्रिया-प्रतिक्रिया है, वहाँ आर्तध्यान है ।

मोघं निन्दन्निजं कृत्यं प्रशंसन् परसंपद: ।
विस्मित: प्रार्थयन्नेता: प्रसक्तश्चैतदर्जने ।।8।।

अनुवाद :- अपने निष्फल हुए कार्य की निंदा करता है, अन्य की संपत्ति की प्रशंसा करता है, विस्मय प्राप्त करके उसके लिए (संपत्ति के लिए) प्रार्थना करता है और उसे प्राप्त करने में आसक्त हो जाता है ।

विशेषार्थ :- पुन: आर्त्तध्यानी के शेष लक्षणों को दर्शाया गया है । आर्तध्यानी को सुख के प्रति तीव्र राग और दु:ख के प्रति तीव्र द्वेष होता है, अत: वह हमेशा चाहता है कि अनचाहा कभी न हो और मनचाहा हमेशा होता

रहे । अपने व्यापार में, विवाह आदि के अवसर पर अर्थात् आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक आदि क्षेत्रों में वह अपना सोचा हुआ करने तथा करवाने की प्रवृत्ति वाला होता है । वह हर क्षेत्र में सफलता पाना चाहता है, परंतु जब उसे निष्फलता मिलती है, तो वह उसकी निंदा करता है, अपने भाग्य को दोष देता है एवं अत्यंत दु:खी हो जाता है, वह दूसरों की संपत्ति देखकर ललचाता है, उसकी प्रशंसा करता है और चाहता है कि ऐसी संपत्ति उसे भी मिलनी चाहिए । अनेक लालसाएँ, कामनाएँ उसे सताती हैं तथा दुनिया में जो भी कुछ अच्छा है, वह उसे प्राप्त करना चाहता है । दु:ख से वह भयभीत होता है, उसे शीघ्र विदा करना चाहता है और सुख को बाँहों में आबद्ध रखना चाहता है और इसी चाह में वह दु:खी होता रहता है ।

प्रमत्तश्चेन्द्रियार्थेषु गृद्धो धर्मपराङ्मुख: ।
जिनोक्तमपुरस्कुर्वन्नार्तध्याने प्रवर्तते ।।9।।

अनुवाद :- प्रमत्त, इन्द्रियों के विषयों का लोलुप, धर्म से विमुख तथा जिनवचन की उपेक्षा करने वाला-ये (लक्षण) आर्तध्यान में होते हैं ।

विशेषार्थ :- आर्तध्यानी के और लक्षण बताते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि आर्तध्यानी प्रमादी या आलसी होता है । उसे सत्कार्यों में परिश्रम करना अच्छा नहीं लगता है । ऐन्द्रिक-विषयों में वह रत रहता है । वह वासनाओं का दास होता है । वह विषय-भोगों से बाहर नहीं निकल सकता है । उसकी लोलुपता के कारण वह धर्म से विमुख रहता है । तत्त्वज्ञान के ग्रंथों को पढ़ने का उसे समय नहीं रहता है । धर्मकथा में, प्रवचनों में जाने वालों का, तत्त्व की चर्चा करने वालों का, पूजा, उपासना करने वालों का वह उपहास करता है । वह इच्छाओं का दास होता है, इन्द्रियों का गुलाम होता है और अनेक पापकर्म करके अपनी आत्मा को पतन की ओर ले जाता है । केवल इतने लक्षण ही आर्तध्यानी के नहीं हैं, उसके ओर भी कई प्रकार के लक्षण अव्यक्तरूप में भी होते हैं ।

प्रमत्तान्तगुणस्थानानुगमेतन्महात्मना ।
सर्वप्रमादमूलत्वात्त्याज्यं तिर्यग्गतिप्रदम् ।।10।।

अनुवाद :- प्रमत्त-गुणस्थान के अन्त तक रहने वाला, तिर्यंचगति को

प्राप्त कराने वाला यह (आर्तध्यान) सभी प्रमाद का मूल होने से महापुरुषों को त्याग करने योग्य है ।

विशेषार्थ :- जब तक राग-द्वेष, मोह का साम्राज्य है और प्रमत्तदशा है, तब तक आर्तध्यान होने की संभावना है । अतः प्रस्तुत श्लोक में छठे प्रमत्त गुणस्थान के अंत तक आर्तध्यान रहता है । मिथ्यात्वी को तो अशुभध्यान ही प्रायः होते हैं, किंतु सम्यग्दृष्टि, देशविरति और प्रमत्त-गुणस्थान पर स्थित साधुभगवन्त को भी आर्तध्यान हो जाता है । अनिष्टसंयोग-वियोगानुबंधी, वेदनानुबंधी, इष्टसंयोग-वियोगानुबंधी और निदान-अनुबंधी ये चारों प्रकार के आर्तध्यान राग-द्वेष तथा ममत्व के कारण होते हैं । गृहस्थ-जीवन में आर्तध्यान के निमित्त बहुधा मिलते हैं, परंतु साधुजीवन में इनकी संभावना कम होती है, फिर भी पूर्व पापकर्मोदय के प्रभाव से शरीर में कोई व्याधि हो गई हो, अनुकूल आहार नहीं मिला हो, किसी ने उचित सम्मान नहीं किया हो आदि कारणों से प्रमत्त साधु आर्तध्यान के वशीभूत हो जाते हैं । विहार, शीत, उष्ण आदि परिषह सहन नहीं होने के कारण भी आर्तध्यान की संभावना रहती है । गृहस्थ जीवन में तो कितने ही अनुकूल-प्रतिकूल अवसर प्राप्त होते रहते हैं । पुत्र, पत्नी, धन आदि पर ममत्व होने के कारण यदि उनका अकस्मात् वियोग हो जाए, अनिष्ट स्वजन का संयोग हो जाए, पद-प्रतिष्ठा धूमिल होजाए, शरीर में कोई रोग हो जाए आदि कई कारणों से व्यक्ति आर्तध्यान से ग्रसित हो जाता है । आर्तध्यान के परिणाम से जो कर्मबंध होते हैं, वे एकेन्द्रियादि तिर्यंचगति में ले जाने वाले होते हैं ।

रौद्रध्यान

निर्दयं वधबंधादिचिन्तनं निबिडक्रुधा ।
पिशुनासभ्यमिथ्यावाक् प्रणिधानं च मायया ।।11।।

अनुवाद :- अत्यंत क्रोधित होकर निर्दयतापूर्वक वध, बंधन आदि का चिन्तन करना, माया द्वारा चुगली, असभ्यवचन, असत्यवाणी का विचार करना (ये रौद्रध्यान के भेद हैं) ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने रौद्रध्यान के चार भेदों में से दो भेदों का निर्देश किया है । आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो अशुभ ध्यान हैं ।

इनमें भी रौद्रध्यान आर्तध्यान की अपेक्षा अधिक भयंकर है, क्योंकि इसमें क्रोध की प्रधानता रहती है तथा व्यक्ति दूसरों के अनिष्ट का चिंतन करता है। रौद्र शब्द का अर्थ है भयंकर। स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या, शत्रुता, लोभ आदि के कारण मनुष्य के चित्त में जो भयंकर अहितकर विचारों का उद्भव होता है, हिंसा आदि के भाव चलते रहते हैं, वही रौद्रध्यान का विषय है।

रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं-(1) हिंसानुबंधी (2) मृषानुबंधी (3) स्तेयानुबंधी (4) संरक्षाणानुबंधी अथवा परिग्रहानुबंधी।

प्रस्तुत श्लोक में हिंसानुबंधी और मृषानुबंधी का उल्लेख है। हिंसानुबंधी जीव हिंसा का अनुबन्ध करने वाला होता है, अर्थात् हिंसा के पाप विचार द्वारा भारी कर्मबंध करने वाला होता है। वध, हत्या, खून करने का विचार करना स्थूल-हिंसा के अंतर्गत आता है। बड़े-बड़े हिंसक कत्लखाने खोलने का विचार करना, मांसाहार के लिए पशुओं, पक्षियों, मछलियों आदि जीवों के वध करने की योजना बनाना, अपने मनोरंजन के लिए शिकार खेलने का चिंतन करना आदि स्थूल हिंसा है। इसके अलावा प्राणियों को निर्दयतापूर्वक बाँधना, उन्हें कष्ट देना, पीटना, किसी को मानसिक-त्रास देना, उसके अहित का चिंतन करना, उसे कष्ट में डालने का विचार करना आदि सूक्ष्म-हिंसा है।

मनुष्य क्रोध के आवेश में अनेक प्रकार के भयंकर विचार मन में लाता है, जैसे-सभी को गोली से उड़ा दूँ, मेरा बस चले तो एक को भी जिन्दा नहीं रहने दूँ। इस तरह क्रूरतापूर्ण विचार **हिंसानुबंधी-रौद्रध्यान** है।

रौद्रध्यान का दूसरा प्रकार मृषानुबंधी - ध्यान है। मृषा अर्थात् असत्य। असत्य के अनेक प्रकार हैं। दुष्टवचन बोलने का मन में विचार उत्पन्न होना, चुगली करने का विचार होना, किसी की गुप्त बात या दोष को प्रकट करने का विचार, असभ्य या अपमानजनक शब्द बोलने का भाव, गाली देने का भाव, व्यापार-धंधे में, पुत्र-पुत्री की सगाई में, जमीन-जायदाद को बेचते समय, कोर्ट-कचहरी के प्रसंग में किस प्रकार झूठ का आचरण करना, सफाई देना आदि अग्रिम विचारों को मन में लाकर जीव कल्पनाओं के जगत् में ही रौद्रध्यान करके भयंकर कर्मों का उपार्जन कर लेता है। मायाकपट के कारण ऐसा **मृषानुबंधी-रौद्रध्यान** विशेष होता है।

चौर्यधीर्निरपेक्षस्य तीव्रक्रोधाकुलस्य च ।
सर्वाभिशंकाकलुषं चित्तं च धनरक्षणे ।।12।।

अनुवाद :- तीव्र क्रोध से व्याकुल और (सजा या दु:ख से) निश्चिन्त व्यक्ति को चोरी करने की बुद्धि होती है तथा धन के संरक्षण के लिए सभी के प्रति शंका से चित्त कलुषित होता है ।

विशेषार्थ :- रौद्रध्यान का तीसरा प्रकार स्तेयानुबंधी है । स्तेय, अर्थात् चोरी । क्रोध, लोभ और धन के अभाव आदि से व्याकुल बना हुआ व्यक्ति दूसरे का धन चोरी करने का विचार करता है । चोरी करने का मुख्य कारण द्रव्यलोलुपता है, भोगों के लिए लालायित रहता है, तब वह इनको प्राप्त करने के लिए चोरी का विचार करता है । यह अनीति है, अत्याचार है, भयंकर पाप है आदि विचार उसके मन में नहीं आते हैं । चोरी का विचार केवल गरीब ही करते हैं, ऐसा नहीं है । साधन सम्पन्न लोग भी चोरी का विचार करते हैं । सेंध लगाने की, जेब काटने की, किसी को लूटने की, डाका डालने की योजना बनाना, ``किसी भी तरह धन आए मुट्ठी में और ईमान जाए भट्टी में'' इस तरह के पापमय विचार, स्तेयानुबंधी-रौद्रध्यान हैं ।

रौद्रध्यान का चौथा प्रकार संरक्षणानुबंधी अथवा परिग्रहानुबंधी है । विषय-सुख को प्राप्त करने के साधनों और धन को सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य अनेक युक्ति-प्रयुक्ति का विचार करता है । धन कमाने का विचार आर्तध्यान है और कमाए हुए धन को सुरक्षित रखने का विचार जब उग्र आवेश वाला हो जाता है, तब वह रौद्रध्यान के अंतर्गत आ जाता है । उसमें तीव्र आसक्ति के कारण दिन-रात धन की सुरक्षा का चिंतन चलता रहता है । कल्पना में ही कोई उसके धन को हरण करने का प्रयत्न करता है, तो वह उसका खून कर देता है । कभी-कभी तो धन कमाया नहीं, उसके पूर्व ही उसके संरक्षण के सपने देखने लगता है । कोई मेरे धन को हाथ न लगाए, जो भी मेरे धन को बुरी नजर से देखेगा, उसकी आँखें फोड़ दूँगा, जान से मार डालूंगा ऐसे भयंकर विचार उसके मन में आते हैं और व्यर्थ में पाप का बोझा लेकर वह नरकगति की ओर प्रयाण करता है ।

रौद्रध्यान-पांचवे गुणस्थानक तक

एतत्सदोषकरण-कारणानुमतिस्थिति ।
देशविरतिपर्यन्तं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ।।13।।

अनुवाद :- यह दोषयुक्त (कार्य) करना, करवाना और अनुमोदनरूप जिसकी स्थिति है, वह चार प्रकार का रौद्रध्यान देशविरति (गुणस्थानक) तक होता है ।

विशेषार्थ :- यह चार प्रकार का रौद्रध्यान-हिंसानुबंधी मृषानुबंधी, स्तेयानुबंधी और संरक्षणानुबंधी, इनमें से प्रत्येक के (1) करना (2) करवाना (3) अनुमोदन करना से (4) देशविरति गुणस्थान तक होते हैं ।

रौद्रध्यान में अत्यंत क्रूर भाव होते हैं । हिंसा करते समय मनुष्य के हृदय में निर्दयता के भाव आते हैं । सामान्यतया, लोगों की यह धारणा होती है कि स्वयं हिंसा करो तो पाप है, साथ ही पकड़े जाने पर दंडित होने का भय, परंतु दूसरों के द्वारा हत्या करवाने में पाप भी कम लगेगा और अपराधी के रूप में स्वयं पकड़े भी नहीं जाएंगे, परंतु यह एक प्रकार का भ्रम है । शास्त्रकार कहते हैं कि हिंसा करने वाले, कराने वाले और अनुमोदना करने वाले तीनों को हिंसा का समान फल मिलता है । हिंसा का फल उसके क्रूर भावों पर आधारित है ।

पंचेन्द्रिय मनुष्य की हत्या ही नहीं, एकेन्द्रियादि जीवों की हिंसा में भी क्रूरता के भाव संभव हैं । जिस प्रकार हिंसा करने में, उसी प्रकार झूठ बोलने में, छल-कपट कर किसी को ठगने में, चोरी करने में भी कर्मबंध होता है । परिग्रह को बढ़ाने तथा उसके संरक्षण में भी पापप्रवृत्ति होती है ।

अनुमोदना द्वारा होनेवाले पाप की सूक्ष्म समझ बहुत कम लोगों में होती है । अनेक प्रसंगों में बिन वजह अनुमोदना करके जीव पापार्जन करता है । ऐसे आक्रोशयुक्त अशुभ अध्यवसाय चित्त में चलते रहते हैं, यह भी रौद्रध्यान है । इस प्रकार के रौद्रध्यान देशविरति-गुणस्थानक तक के जीवों के होते हैं । सम्यग्दृष्टि-अविरति या देशविरति वाले जीव भी इस प्रकार का ध्यान करते हैं । भगवान् के वचनों पर श्रद्धा होने के कारण इस प्रकार का ध्यान नहीं करना चाहिए । यह समझते हुए भी चारित्रमोहनीय कर्म के कारण ऐसा रौद्रध्यान उनसे हो जाता है ।

रौद्रध्यान में लेशाएं

कापोतनीलकृष्णानां लेश्यानामत्र संभवः ।
अतिसंक्लिष्टरूपाणां कर्मणां परिणामतः ।।14।।

अनुवाद :- यहाँ (रौद्रध्यान में) अत्यंत क्लिष्ट कर्मों के परिणामस्वरूप कापोत, नील और कृष्ण लेश्याएँ संभव हैं ।

विशेषार्थ :- आर्तध्यान के समान रौद्रध्यान में भी तीनों अशुभ लेश्याएँ होती हैं, किन्तु आर्तध्यान में तीन अशुभ लेश्याएँ होते हुए भी परिणाम कम संक्लिष्ट होते हैं और रौद्रध्यान में कृष्ण, नील और कापोत तीनों ही लेश्याएँ अत्यंत क्लिष्ट परिणाम वाली होती हैं ।

लेश्या कर्मजन्य पुद्गल-परिणाम है, जैसे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के पुद्गल होते हैं, जीव में उसी प्रकार के भाव होते हैं । रौद्रध्यानी व्यक्तियों में हिंसा, चोरी, झूठ आदि के तीव्र भाव होते हैं, इसलिए लेश्या भी इसी प्रकार की होती है । कृष्णलेश्या का वर्ण काजल के समान काला, मृत जैसी दुर्गन्ध, अतिकटु तथा स्पर्श अतिकर्कश होता है । कृष्णलेश्या से ग्रसित व्यक्ति को क्षणभंगुर थोड़े से सुख के लिए असंख्य जीवों की हत्या करने का भाव आ जाता है, छोटे-से सुख के लिए, दूसरे को विनष्ट करने का भाव आ जाता है ।

नीललेश्या का वर्ण नीला, मरी हुई गाय के समान दुर्गंध, रस अति तीखा तथा स्पर्श खुरदरा होता है । नीललेश्या से दूषित व्यक्ति के भी परिणाम मलिन होते हैं । वह खुदगर्ज, धनसंग्रह का लोभी और रसलोलुपी होता है । कृष्णलेश्या की अपेक्षा इसमें कम क्रूर परिणाम होते हैं ।

कापोतलेश्या में कबूतर की ग्रीवा जैसा रंग, सड़ी लाश जैसी दुर्गन्ध, रस कसैला और कम खुरदरा स्पर्श होता है । रौद्रध्यानी में इन तीनों अशुभ लेश्याओं की संभावना रहती है ।

उत्सन्नबहुदोषत्वं नानामरणदोषता ।
हिंसादिषु प्रवृत्तिश्च कृत्वाऽघं स्मयमानता ।।15।।
निर्दयत्वाननुशयौ बहुमानः परापदि ।
लिंगान्यत्रेत्यदो धीरैस्त्याज्यं नरकदुःखम् ।।16।।

अनुवाद :- हिंसादि की प्रवृत्ति में उत्सन्न (ओसन्नदोष), बहुलदोष, नानादोष, आमरणदोष, पापकरके हर्ष से अभिमान करना, निर्दयता, पश्चातापरहितता, दूसरों के दु:ख में अभिमान-ये इसके (रौद्रध्यान के) लिंग हैं। धीर पुरुष को नरक-दु:ख देने वाले इनका (चिह्नों का) त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में रौद्रध्यानी की पहचान के लक्षणों द्वारा हम स्वयं का निरीक्षण कर सकते हैं कि कहीं हमारे अन्दर तो रौद्रध्यान का प्रवेश नहीं है ? हिंसादि, अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि के संबंध में पापविचारों का समावेश रौद्रध्यान में होता है। प्रस्तुत श्लोक में रौद्रध्यानी के निम्नलिखित लक्षण बताए गए हैं–

(1) **उत्सन्नदोष -** उत्सन्न अर्थात् सतत, बार-बार। रौद्रध्यानी बहुलता से (बार-बार) हिंसादि में से किसी एक में प्रवृत्ति करता है, वह उत्सन्न या ओसन्नदोष है।

(2) **बहुलदोष -** मात्र एक बात में नहीं, बल्कि हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह आदि सभी के संबंध में अनेक दोषयुक्त, पापयुक्त विचार करता रहता है। बहुलदोष वाला सभी दोषों का सेवन करने में निपुण होता है।

(3) **नानाविधदोष -** रौद्रध्यानी हिंसादि के उपायों में अनेक बार प्रवृत्ति करता है, प्रत्येक पाप में विविध युक्तियों का प्रयोग करता है, अथवा रौद्रध्यानी अज्ञान के कारण कुशास्त्र में श्रद्धा से, हिंसादि में धर्मबुद्धि से प्रवृत्ति करता है, पशु आदि की बलि देता है।

(4) **आमरणान्तदोष -** जीवन के अंतिम क्षण तक भी पाप-विचारों का त्याग नहीं करता है। रौद्रध्यानी या तो मरूँ या मारूँ - इस सिद्धांत वाला होता है। वह जब तक अपने शत्रु या अन्य को नष्ट नहीं कर दे, तब तक उसे शांति नहीं होती। उसे स्वयं के मरने का भी डर नहीं होता है।

(5) **स्मयमानता -** पाप करके फिर उसका अभिमान करना, जैसे - हम इतनी कुशलता पूर्वक अपराध करते हैं कि कभी पकड़े ही नहीं जाते, या हम चोरी करने में इतने निपुण हैं कि उसकी आँखों के सामने ही धूल झोंक देते हैं, या कितनी ही हत्याएँ कीं, पर आज तक पकड़े नहीं गए - इस प्रकार पाप करके फिर अभिमान करना। श्रेणिक ने गर्भवती हरिणी का शिकार करके हरिणी और उसके गर्भ को तड़पते देखकर इस प्रकार अभिमान और प्रसन्नता

व्यक्त की थी । इस भयंकर रौद्रध्यान के कारण ही उन्हें नरकगति का बंध हुआ ।

(6) **निर्दयता -** हृदय अत्यंत कठोर होता है । पाप करते समय, किसी की हत्या, चोरी करते समय वह विचार नहीं करता है कि उस व्यक्ति का, उसके परिवार का जीवन बर्बाद हो जाएगा । सामने तड़पते हुए दु:खी व्यक्ति पर भी उसे दया नहीं आती है ।

(7) **अननुशय -** अनुशय अर्थात् पश्चाताप । अननुशय अर्थात् पश्चाताप नहीं होना । कितने ही व्यक्ति पाप करने के बाद पश्चाताप करते हैं । कितने ही व्यक्ति ऐसे होते हैं कि पाप करने से, दुष्कृत्य का सेवन करने से स्वयं को प्रत्यक्ष हानि हुई हो तो पश्चाताप करते हैं, किन्तु रौद्रध्यानी तो स्वयं का नुकसान होने पर भी पश्चाताप नहीं करता है, बल्कि दुगुने बल से पापकार्य करने लगता है ।

(8) दूसरों के दु:ख में स्वयं का बहुमान समझता है । पाप करके वह अभिमान ही नहीं करता, बल्कि दूसरे व्यक्ति को दु:खी देखकर, उसकी दयनीय हालत देखकर उसे अधिक खुशी का अनुभव होता है ।

अप्रशस्ते इमे ध्याने दुरन्ते चिरसंस्तुते ।
प्रशस्तं तु कृताभ्यासो ध्यानमारोढुमर्हति ।।17।।

अनुवाद :- ये (दो) अप्रशस्त-ध्यान दुरन्त और चिरपरिचित होने से प्रशस्त-ध्यान में अभ्यास करके आरूढ़ होना योग्य है ।

विशेषार्थ :- आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान दोनों अशुभ हैं और अनादिकाल से जीव का इनसे परिचय है । ये दोनों ध्यान सहज स्वभाव बन गए हैं । इन ध्यानों को करने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है । जीव का अनंतकाल मिथ्यात्व-अवस्था में ही व्यतीत होता है और मिथ्यात्व-अवस्था में प्राय: अशुभ ध्यान ही होता है । पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान तथा छठे गुणस्थान तक आर्तध्यान होने की संभावना रहती है, अत: इन दोनों ध्यानों से मुक्ति पाना अत्यंत कठिन है । इनको दूर करने के लिए तथा धर्मध्यान में आने के लिए सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है और अभ्यास के साथ-साथ वैराग्य भी होना चाहिए ।

भावना देशकालौ च स्वासनालंबनक्रमान् ।
ध्यातव्यध्यात्रनुप्रेक्षालेश्यालिंगफलानि च ।।18।।

अनुवाद :- भावना, देश, काल, स्वयं का आसन, आलंबन, क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा लेश्या, लिंग और फल (इनके संबंध में जानने की आवश्यकता है ।)

विशेषार्थ :- पूर्व श्लोक में शुभध्यान का अभ्यास करने के लिए निर्देश किया गया था । प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि प्रशस्त-ध्यान में आरूढ़ होने के लिए किन-किन बातों का ध्यान आवश्यक है ।

ध्यान का विषय अत्यंत गहन है, अतः जिसे वास्तव में ध्यानयोगी बनना है, अशुभ ध्यान से मुक्ति पाना है, उसे एक विशिष्ट अनुभवी मार्गदर्शक से विविध विषयों की जानकारी ले लेना चाहिए । आँख बंद करके बैठ जाने से ध्यान नहीं होता है । ध्यान का अभ्यास व्यवस्थित हो, इसके लिए ग्रंथकार ने पूर्व आचार्यो का अनुसरण करके निम्नलिखित बारह विषयों का निर्देश किया है-

(1) **भावना -** जिसके द्वारा हृदय को भावित किया जाए, वह भावना है । ज्ञानभावना, दर्शनभावना, चारित्रभावना, मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ-भावना आदि ।

(2) **देश -** ध्यान के लिए उचित अनुकूल स्थल का चयन ।

(3) **काल -** ध्यान के लिए अनुकूल समय का चयन ।

(4) **आसन -** जिस आसन पर अधिक देर तक स्थिरतापूर्वक बैठा जा सके, जैसे-पद्मासन, सुखासन आदि ।

(5) **आलंबन -** ध्यान के लिए प्रभुभक्ति, वाचना आदि का आलंबन ।

(6) **क्रम -** ध्यान के लिए मननिरोध आदि का क्रम ।

(7) **ध्यातव्य -** ध्यान का विषय, जैसे - जिनाज्ञा, संसार की असारता का चिंतन, कर्म के विपाक का चिंतन, विश्व के स्वरूप पर चिंतन आदि ।

(8) **ध्याता -** ध्यान करने वाले की योग्यता, उसकी शारीरिक, मानसिक-स्वस्थता तथा जागरूक अवस्था आदि ।

(9) **अनुप्रेक्षा -** ध्यान के पूरा हो जाने पर अनित्यादि भावनाओं का चिंतन ।

(10) **लेश्या -** धर्मध्यान की शुभ लेश्याएँ ।

(11) **लिंग -** धर्मध्यान की पहचान शुद्ध सम्यक्श्रद्धान आदि ।

(12) **फल -** देवलोक आदि गति की प्राप्ति ।

चार भावनाएं

ज्ञात्वा धर्म्यं ततो ध्यायेत्तत्त्वतस्तत्र भावना: ।
ज्ञानदर्शनचारित्र वैराग्याख्या: प्रकीर्तिता: ।।19।।

अनुवाद :- इस विषय को जानने के बाद धर्मध्यान करना चाहिए । उसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य नाम की चार भावनाएँ कही गई हैं ।

विशेषार्थ :- ग्रंथकार ने पूर्व श्लोक में जो धर्मध्यान के अभ्यास के लिए बारह अंग बताए हैं, उनमें से प्रथम अंग **भावना** है । भावनाएँ विविध प्रकार की होती हैं । मैत्री, प्रमोद आदि चार भावनाएँ भी हैं, अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएँ भी हैं । यहाँ प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य इन चार भावनाओं के अभ्यास की बात कही गई है । इससे ध्यान करने की योग्यता प्राप्त होती है ।

अनादिकाल के संस्कारों के कारण जीव अभी तक मिथ्यात्व, इन्द्रियविषय, कषाय, आहार, परिग्रह, विषय-वासना, भय, शोक, राग, द्वेष आदि अप्रशस्त-भावनाओं से भावित था, मोह का ज्वर चढ़ा हुआ था, संसार के रंग से रंगा हुआ था, अत: इन अप्रशस्त भावनाओं का निदान प्रशस्त-भावनाओं से हृदय को भावित करके करना है । इन भावनाओं के अभ्यास से मन की चंचलता, निर्बलता, अशांतता नष्ट होकर स्थिरता, सबलता और शुद्धता बढ़ती है ।

1. ज्ञानभावना का अभ्यास करने वाले को श्रुतज्ञान में हमेशा प्रवृत्ति रखना चाहिए, सूत्र और अर्थ का चिंतन-मनन करना चाहिए ।

2. दर्शनभावना का अभ्यास करने वाले को सुदेव-सुगुरु-सुधर्म के स्वरूप को जानना चाहिए तथा जिनवचनों में पूर्ण श्रद्धा स्थापित करनी चाहिए । शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, प्रशंसा, संस्तव - सम्यक्त्व के इन पाँच दूषणों को प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिए तथा जिनशासन की प्रभावना, तीर्थसेवा, भक्ति, प्रशमादि गुणों को आदरना चाहिए ।

3. चारित्र भावना का अभ्यास करने वाले को इन्द्रियों पर नियंत्रण प्राप्त करके विषयों और कषायों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। हिंसादि पापों की अविरतिरूप आश्रयों का त्याग करना चाहिए।

4. वैराग्यभावना का अभ्यास करने वाले को विनाशशील संसार के स्वभाव तथा शरीर के स्वरूप को जानकर अनासक्त बनना चाहिए; पराधीन बनाने वाले, जड़ता तथा प्रमाद को उत्पन्न करने वाले क्षणभंगुर, नीरस वैषयिक-सुख-भोगों से दूर रहना चाहिए।

भावनाओं का फल

निश्चलत्वमसंमोहा निर्जरा पूर्वकर्मणाम्।
संगाशंसाभयोच्छेदः फलान्यासं यथाक्रमम् ॥20॥

अनुवाद :- निश्चलत्व, असम्मोह, पूर्वकर्मों की निर्जरा तथा संग आशंसा और भय का उच्छेद ये अनुक्रम से इसके (चार भावना के) फल हैं।

विशेषार्थ :- पूर्व श्लोक में धर्मध्यान की तैयारी के लिए जिन चार भावनाओं से मन को भावित करने का निर्देश दिया गया था, उन भावनाओं का फल प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है।

(1) **ज्ञानभावना से निश्चलत्व का लाभ होता है।** श्रुतज्ञान के अभ्यास से व्यक्ति को हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि का ज्ञान होता है। जो आत्मा के लिए अहितकर है, ऐसे अशुभ आश्रव और पापादि तत्त्वों को दुर्गति प्रदायक जानकर वह उनका त्याग करता है। उसका भेदज्ञान पुष्ट होता है तथा उसे शरीर की नश्वरता समझ में आती है।

(2) **दर्शनभावना से असम्मोह का लाभ-** दर्शनभावना से सम्यक्त्व के दूषण, शंका, कांक्षा आदि दूर हो जाते हैं, व्यक्ति का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है, फिर वह मिथ्यात्वी देवी-देवताओं की उपासना के लिए सम्मोहित नहीं होता है। दर्शनभावना से देव, गुरु, धर्म, शास्त्र और लोक संबंधी सारी मूढ़ताएँ, मिथ्या मान्यताएँ समाप्त हो जाती हैं, जिससे व्यक्ति को धर्म में स्थिरता प्राप्त होती है।

(3) **चारित्रभावना से कर्मनिर्जरा का लाभ होता है।** चारित्रभावना के अभ्यास से तप में अभिवृद्धि होती है। इससे पूर्व में बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा

हो जाती है तथा नए अशुभ कर्मों का बंध रुक जाता है ।

(4) **वैराग्यभावना से संग, आशंसा और भय का उच्छेद हो जाता है ।** इस भावना के अभ्यास से संसार की असारता समझ में आती है, जिससे राग-द्वेष की वृद्धि होती है । ऐसे निमित्तों का त्याग कर देने से व्यक्ति की नि:संगता बढ़ती है ।

स्थिरचित्त: किलैताभिर्याति ध्यानस्य योग्यताम् ।
योग्यतैव हि नान्यस्य तथा चोक्तं परैरपि ।।21।।

अनुवाद :- स्थिर चित्तवाला ही इनके (भावनाओं के) द्वारा ध्यान की योग्यता प्राप्त करता है, इसके अलावा अन्य किसी की योग्यता नहीं है । अन्य दर्शनियों ने भी इस प्रकार कहा है ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रथम शर्त स्थिरचित्तता है । चंचल चित्तवाला ध्यान नहीं कर सकता है । धर्मध्यान की चार भावनाओं (ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वैराग्य) द्वारा मन को भावित करना चाहिए । बार-बार अभ्यास करने से संसार का रंग उतरकर मन भावना के रंग में रंग जाता है, फिर उसे सांसारिक विचार नहीं आते हैं । भावनाओं पर ही उसका चिंतन चलता रहता है, इससे चित्त स्थिर तथा शांत होता है, तब वह धर्मध्यान की योग्यता प्राप्त करता है । जिसका चित्त अति चपल है, विषय-कषाय जिसके चित्त में रमण करते हैं, जो इन्द्रियों के विषय देखते ही उन्हें प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठता है, जिसका चित्त आरंभ, परिग्रह, राग-द्वेष आदि में दौड़ता रहता है, उसके चित्त में चंचलता आए बिना नहीं रहती है । जब तक चित्त एक विषय के विचार से दूसरे विषय पर विचार करने के लिए भटकता रहता है, तब तक स्थिरता कहाँ से प्राप्त हो ? ध्यान के लिए भावनाओं के अभ्यास की आवश्यकता है । श्रीमद्-**भगवद्गीता** आदि ग्रंथ (६/३४) भी इस बात के साक्षी हैं ।

भगवद् गीता के चार श्लोक

चंचलं हि मन: कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।22।।

अनुवाद :- हे कृष्ण ! वह मन बड़ा ही चंचल, क्षोभ उत्पन्न करने वाला, दृढ़ (जिद्दी) और बलवान् है, उसे रोकना मैं (आकाश में स्थित) वायु को रोकने की तरह अत्यंत कठिन मानता हूँ ।

विशेषार्थ :- ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी ने अपने वक्तव्य के समर्थन में **गीता** के छठे अध्याय के तीन श्लोक (34 ,35 ,36) क्रमशः दिये हैं । प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन अपनी विवशता को बता रहे हैं कि यह मन अत्यंत चंचल है । मनुष्य का मन अनादिकाल से कुछ लाक्षणिकताएँ लिये हुए है, इसमें देश, जाति, कुल इत्यादि का कोई भेद नहीं है । ग्रंथकार ने अन्यदर्शनों का भी मन के संबंध में प्रमाण दिया है । अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है कि यह मन अत्यंत चंचल, बलवान्, जिद्दी, शरीर और इन्द्रियों को क्षोभित करने वाला और वायु की तरह मुट्ठी में कैद करके नहीं रखा जा सकने वाला है, अतः ऐसे मन को स्थिर करना अति दुष्कर है । अर्जुन का यह अनुभव सर्वसामान्य है । मानवमात्र की उलझन को अर्जुन ने वाणी में व्यक्त किया है । मन को शांत व स्थिर रखना अत्यंत दुष्कर है । चंचलता के साथ-साथ यह प्रमादी भी है, अर्थात् यह साधक को अपनी स्थिति से विचलित कर देता है । मन को किसी भी एक विषय में अधिक समय तक एकाग्र रखना अत्यंत कठिन है । सभी मन के अनुसार ही चलते रहते हैं, लेकिन जिसने मन को वश में कर लिया, जो मन पर सवार हो गया वह तो लाखों में से कोई एक होता है ।''

मन का निग्रह करना, उसे वश में रखना, उसे अपने अनुसार चलाना अत्यंत कठिन है, फिर भी असंभव नहीं है । अनेक उपायों द्वारा मन को वश में किया जा सकता है ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ।।23।।

अनुवाद :- हे महाबाहो ! यह मन बड़ा चंचल है और इसका निग्रह करना भी कठिन है, इसमें संशय नहीं है, परंतु हे कुन्तीनंदन ! अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसे वश में किया जाता है ।

विशेषार्थ :- ग्रंथकार ने यह श्लोक भी गीता के छठे अध्याय से लिया है । इसमें श्रीकृष्ण मन की चंचलता के विषय में अर्जुन का समर्थन करते हुए मन को वश में करने का उपाय बताते हैं ।

''महाबाहो'' संबोधन का तात्पर्य शूरवीरता बताने से है, अर्थात् अभ्यास करते हुए कभी ऊबना नहीं चाहिए, स्वयं में धैर्यपूर्वक वैसी ही शूरवीरता रखनी चाहिए । अर्जुन ने पहले चंचलता के कारण मन का निग्रह करना बड़ा कठिन बताया । उसी बात पर श्रीकृष्ण कहते हैं-तुम जो कहते हो, वह एकदम ठीक बात है । इसका निग्रह करना भी कठिन है-ऐसा असंख्य लोगों का अनुभव है, यही वास्तविकता है, परंतु यह आदर्श नहीं है । भूतकाल में अनेक महापुरुषों ने मन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया । मन को बार-बार ध्येय में लगाने का नाम अभ्यास है । इस अभ्यास की सिद्धि एक दो दिन में नहीं होती है । अभ्यास निरंतर प्रतिदिन होना चाहिए । कभी अभ्यास किया, कभी नहीं -ऐसा नहीं होना चाहिए ।

जब तक विषयों के दुष्परिणाम नजर नहीं आते हैं, तब तक वैराग्यभाव नहीं आता है और विषयभोग की इच्छा शान्त नहीं होती है । जब वैराग्य आ जाता है तब चित्त अंतर्मुख हो जाता है । जब चित्त अंतर्मुख हो जाता है, तब ही उसे आत्मा में या परमात्मा में रुचि जागृत होती है । जैसे-जैसे परमात्मा में रुचि बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शरीर से ममत्वभाव भी छूटता जाता है । वैराग्यभाव प्रकट हो जाने पर चित्त को संयम में रखना आसान हो जाता है ।

इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य से चंचल मन को जीता जा सकता है ।

असंयतात्मनो योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।।24।।

अनुवाद :- जिसका मन पूरा वश में नहीं है, उसके द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, परंतु उपायपूर्वक यत्न करने वाले तथा वशित मन वाले साधक को योग प्राप्त हो सकता है-ऐसा मेरा मत है ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक भी गीता के छठे अध्याय से लिया गया है । श्रीकृष्ण ने अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन को वश में करने का उपाय बताया । अब वे अर्जुन को समझाते हैं कि **जो असंयमी है, उसके लिए योग दुष्प्राप्य है और जो संयमी है, उसे योग की प्राप्ति हो जाती है ।** जिसका मन वश में नहीं है, उसे योग सिद्ध होना कठिन है । प्रायः साधकों की यह प्रवृत्ति होती

है कि वे साधना तो श्रद्धापूर्वक करते हैं, पर उनके प्रयत्न में शिथिलता रहती है, जिससे साधक में संयम नहीं होता है। विषयभोगों की रुचि के कारण ही वह संयतात्मा नहीं हो पाता है, मन इन्द्रियों को अपने वश में नहीं कर पाता है, इसलिए उसे ध्यानयोग की सिद्धि में कठिनता होती है, परंतु जो तत्परतापूर्वक साधना में लगा हुआ है, अर्थात् ध्यानयोग की सिद्धि के लिए ध्यानयोग के उपयोगी आहार, विहार, विचार, सोना, जागना आदि नियमों का नियमित रूप से पालन करता है और जिसका मन सर्वथा वश में है, ऐसे वशात्मा साधक द्वारा योग प्राप्त किया जा सकता है।

जब मनः शुद्धि हो जाती है, तब वह स्वतः वश में हो जाता है। मन में उत्पत्ति और विनाशशील वस्तुओं का राग रहना ही मन की अशुद्धि है।

सदृशप्रत्ययावृत्या वैतृष्ण्याद् बहिरर्थतः।
एतच्च युज्यते सर्वं भावनाभावितात्मनि ।।25।।

अनुवाद- सदृशबोध (गीता व जैनदर्शन में वैराग्य का समान बोध) के अभ्यास से और बाह्य विषयों के प्रति तृष्णारहित होने से भावना से भावित हुई आत्मा के लिए यह सब शक्य है।

विशेषार्थ- ग्रंथकार प्रस्तुत श्लोक में स्पष्ट करते हैं कि वैराग्य का बोध जैनदर्शन और गीता में एकसमान है, इसलिए वैराग्य की भावना से भावित आत्मा के लिए मन को वश में करना शक्य है। वैराग्य की भावना के लिए जगत् के बाह्य-पदार्थों से मन को दूर करने की आवश्यकता है। तृष्णाओं और वासनाओं पर विजय प्राप्त करने से मन वैराग्यवासित होता है। ऐसे मन के लिए भी तत्त्व का यथार्थबोध आवश्यक है। बोध से मन शुद्ध और निर्मल होता है। ध्यानयोग की सिद्धि के लिए केवल वैराग्य नहीं, बल्कि आत्मभावना की भी आवश्यकता है। आत्मभावना का भी उपयोगपूर्वक सतत अभ्यास आवश्यक है। ध्यानयोग में जिन्हें स्थिर होना है, उन्हें बार-बार विवेकपूर्वक जागृति के साथ-साथ अभ्यास की भी आवश्यकता है। जिस तरह शिक्षित घोड़े को सवार जिधर ले जाना चाहे उधर ले जा सकता है उसी प्रकार शिक्षित व नियंत्रित मन को साधक जिसमें लगाना चाहे उसमें लगा सकता है।

ध्यान के लिए स्थान

स्त्रीपशुक्लीबदु:शीलवर्जित स्थानमागमे ।
सदा यतीनामाज्ञप्तं ध्यानकाले विशेषत: ।।26।।

अनुवाद :- आगम में मुनि के लिए स्त्री, पशु, नपुंसक और दु:शील से रहित स्थान कहा गया है, इसमें भी ध्यान के समय विशेष रूप से कहा है ।

विशेषार्थ :- ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में ध्यान के लिए योग्य स्थान की चर्चा की है । ध्यान में कोई विघ्न न आए, ध्यान अच्छी तरह से हो, इसके लिए कौन-सा स्थान चयन करना चाहिए ? इस प्रश्न पर शास्त्रकारों ने गहन विचार किया है । ध्यान में सफलता तब ही मिलती है, जब चित्त की एकाग्रता हो, अत: ऐसे स्थान पर ध्यान करने के लिए नहीं बैठना चाहिए, जहाँ चित्त की एकाग्रता खंडित होने की संभावना हो, जहाँ किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका हो । ध्यान करते समय स्थल, आसन, वातावरण और समय आदि योग्य नहीं हों, तो चित्त की एकाग्रता का टिक पाना मुश्किल होता है । प्रस्तुत श्लोक में स्थान पर विचार किया गया है । ध्यान करने के लिए मन की शांति आवश्यक है और मन की शांति के लिए इन्द्रियों का शांत होना आवश्यक है । इन्द्रियों का स्वभाव है कि अपने विषयों का निमित्त प्राप्त होते ही वे चंचल हो जाती हैं । इससे मन की चंचलता बढ़ती है । शास्त्रों में अनेक दृष्टांत आते हैं कि ऐसे अशुभ निमित्तों को पाकर कई मुनि पतित हो गए । लक्ष्मणा साध्वी ने एक बार चक्रवाक एवं चक्रवाकी की प्रणय-क्रिया को कुछ क्षणों तक ध्यान से देखा, तो हृदय में वासना के सुप्त संस्कार जागृत हो गए । सिंहगुफावासी मुनि का कोशा को देखते ही मन विकृत हो गया । जीव निमित्तवासी है । निमित्तों का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, इसलिए साधक को साधना के लिए अनुकूल, एकांत, निरुपद्रवी, प्रेरक स्थान होना चाहिए ।

स्थिरयोगस्य तु ग्रामेऽ विशेष: कानने वने ।
तेन यत्र समाधानं स देशो ध्यायतो मत: ।।27।।

अनुवाद :- स्थिरयोग वाले को, अर्थात् ध्यानसिद्ध योगी को तो गाँव में, जंगल में या उपवन में कोई विशेषता नहीं, जहाँ समाधि रहे, वह प्रदेश या स्थान योग्य माना जाता है ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि जो ध्यानयोग में स्थिर हो गए हैं-ऐसे सिद्धपुरुषों के लिए स्थानादि का महत्त्व नहीं रहता है, उनका तो कैसे भी स्थान पर मन स्थिर हो सकता है, परंतु इस प्रकार की स्थिरता दो-चार दिन में प्राप्त नहीं होती है । बार-बार अभ्यास करने से, अपने लक्ष्य की ओर खींचकर लाने से साधक का मन एक विषय में धीरे-धीरे स्थिर होने लगता है । चित्त अगर दूसरे विषय में चला भी गया हो, तो कुछ ही क्षणों में उसे पता चल जाता है । वह पुनः सावधान हो जाता है और अन्य विषयों से चित्त को निवृत्त करके पुनः अपने विषय पर केन्द्रित करता है । साधक की श्रद्धा और दृढ़ मनोबल, अभ्यास आदि के कारण मन की एकाग्रता और स्थिरता में वृद्धि होती है और जब ऐसा हो जाता है, तब बाह्य-निमित्त उसे विक्षेप नहीं करते हैं । सांसारिक-कार्यों का अभ्यास तो अनादिकाल से है और उनमें रुचि भी गहन होती है, इसलिए उनमें एकाग्रता जल्दी आ जाती है, किन्तु ध्यान के लिए अधिक अभ्यास की आवश्यकता होती है । ध्यानयोगियों के लिए अनुकूल स्थान का प्रश्न नहीं रहता, चाहे छोटा गाँव हो या बड़ा नगर, वीरान जंगल हो या सुंदर उपवन, वे किसी भी स्थल पर ध्यान करने बैठ सकते हैं ।

ध्यान के लिए काल

यत्र योगसमाधानं कालोऽपीष्टः स एव किं ।
दिनरात्रिक्षणादीनां ध्यानिनो नियमस्तु न ।।28।।

अनुवाद :- जिसमें योग की स्थिरता प्राप्त हो, वही काल इष्ट है । ध्यानी को दिन या रात्रि के क्षण का कोई भी नियम नहीं है ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में ध्यान किस समय करना चाहिए ? कौन-सा समय ध्यान के लिए उचित है ? इसके विषय में चर्चा की गई है । ध्यानयोग के प्रारंभिक-अभ्यासियों के लिए समय का यदि विचार करें, तो उन्हें ऐसे समय पर ध्यान करने के लिए बैठना चाहिए, जब कोई विक्षेप न हो, शोरगुल न हो, वातावरण शांत व शीतल हो, हृदय में तीव्र उल्लास हो, शरीर श्रमित, अर्थात् थका हुआ न हो । इस कारण ब्रह्ममुहूर्त का समय ध्यान के लिए श्रेष्ठ बताया गया है । स्थिरता में सिद्धि प्राप्त होने के बाद काल की प्रतिकूलता का बंधन कम हो जाता है ।

यैवावस्था जिता जातु न स्याद् ध्यानोपघातिनी ।
तथा ध्यायेन्निषण्णो वा स्थितो वा शयितोऽथवा ।।29।।

अनुवाद :- जो अवस्था या आसन जीता हुआ है (सिद्ध है) वह ध्यान का उपघात करने वाला नहीं होता है, अतः उसके अनुसार बैठे-बैठे, खड़े रहकर या सोए-सोए ध्यान करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने आसन का निर्देश किया है । ध्यान करने के लिए किस तरह बैठना ? कौन-सा आसन योग्य है ? ध्यान की प्रक्रिया का अभ्यास करने वाले के लिए यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है । जब तक शरीर की स्थिरता प्राप्त नहीं हो, तब तक मन की स्थिरता भी प्राप्त नहीं होती । अतः अपनी शारीरिक-अनुकूलता को सर्वप्रथम देखना चाहिए । अगर शारीरिक-अनुकूलता हो तो पद्मासन और वीरासन श्रेष्ठ आसन हैं । इनसे इन्द्रियाँ संयमित रहती हैं और मन शांत होकर ध्यान में एकाग्र हो जाता है । अपनी समाधि बनी रहे, हलचल न हो, अधिक देर तक बैठ सकते हों वही आसन ध्यान के लिए योग्य है ।

ध्यान करने वाले को आँखें बंद रखना आवश्यक है, ताकि वह बाह्य-जगत् विच्छेद कर आंतरिक-जगत् में या अपने लक्ष्य पर मन को स्थिर रख सके । बाह्यदृश्य ध्यान में विक्षेप उत्पन्न करते हैं । शारीरिक-शक्ति अधिक हो, शरीर मजबूत हो, तो खड़े-खड़े कायोत्सर्ग-मुद्रा (जिनमुद्रा) में भी ध्यान कर सकते हैं ।

यह सब सावधानी ध्यान के प्रारंभिक अभ्यासी को रखना आवश्यक है, किन्तु जिन्होंने निमित्त ध्यान करते हुए ध्यान में सिद्धि प्राप्त कर ली है, एकाग्रता व स्थिरता प्राप्त कर ली है, उन ध्यानयोगियों के लिए आसन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

सर्वासु मुनयो देशकालावस्थासु केवलम् ।
प्राप्तास्तन्नियमो नासां नियता योगसुस्थता ।।30।।

अनुवाद :- सभी देश, काल और अवस्था में मुनियों ने केवलज्ञान प्राप्त किया है, इसलिए इसमें नियम नहीं है, मात्र योग की स्थिरता का नियम है ।

विशेषार्थ :- ध्यान करने के लिए पूर्वश्लोक में देश, काल, अवस्था आदि का विचार किया गया है, परंतु यह तो ध्यान के प्रारंभिक-अभ्यासियों के लिए है। जिन्होंने ध्यान सिद्ध कर लिया है, उनके लिए देश, काल आदि का कोई बंधन नहीं है। ग्रंथकार कहते हैं कि प्राचीनकाल में कितने ही महापुरुषों ओर तीर्थंकरों ने सभी देश, सभी काल और सभी अवस्था में ध्यान करते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया। इसका तात्पर्य यही है कि सभी देश, सभी काल और सभी अवस्था में ध्यान कर सकते हैं।

ध्यान के आलंबन

वाचना चैव पृच्छा च परावृत्यनुचिन्तने।
क्रिया चालम्बनानीह सद्धर्मावश्यकानि च ।।31।।

अनुवाद :- वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुचिंतन तथा सद्धर्म की आवश्यक-क्रिया इसके (धर्मध्यान के) आलंबन हैं।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में ध्यान के आलंबन के विषय में चर्चा की गई है। आत्मा को ज्ञानादि भावनाओं से भावित करने के बाद ध्यान पर आरूढ़ होने के लिए आलंबनों की आवश्यकता होती है, ताकि ध्यान में मन स्थिर रह सके, क्योंकि मन को खूँटे पर बाँधना आवश्यक है। शास्त्रकारों ने बताया है कि धर्मध्यान में स्थिर रहने के लिए आलंबन की उपयोगिता भी है और आवश्यकता भी है। पंचमहाव्रतधारी साधुओं के लिए श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को लक्ष्य में रखकर जो आलंबन बताए हैं, वे निम्न प्रकार के हैं- वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षा-ये श्रुतधर्म के आधार हैं तथा सामायिक, प्रतिक्रमण आदि चारित्रधर्म के आधार हैं।

वाचना - सूत्र और अर्थ को शुद्धतापूर्वक पढ़ना वाचना है। शिष्यों को आगमों की वाचना देना और शिष्यों द्वारा मन की एकाग्रता के साथ भक्तिपूर्वक वाचना लेना-इससे ज्ञानावरणीय-कर्म की निर्जरा होती है।

पृच्छना - पृच्छना अर्थात् पूछना। वाचना लेते समय होने वाली शंकाओं को, जिज्ञासाओं को विशिष्ट ज्ञातीजनों से पूछकर यथार्थ निर्णय करना पृच्छना नामक स्वाध्याय है।

परावर्तना - उपार्जित ज्ञान को स्थिर रखने के लिए पुनः पुनः उसको

दोहराना परावर्तन-स्वाध्याय है । यह भी धर्मध्यान का आलंबन है । इससे ज्ञान ताजा बना रहता है, विस्मृति और स्खलना से बचाव होता है । मन शुभ प्रवृत्ति में जुड़ा रहता है ।

अनुप्रेक्षा - सूत्र और अर्थ का गहन चिंतन करना अनुप्रेक्षा-स्वाध्याय है । किसी भी शास्त्रीय और आगमिक-विषय पर एकाग्रतापूर्वक संपूर्ण मनोयोग के साथ गहन चिंतन करने से अनेक गुत्थियों का समाधान प्राप्त होता है । जैसे-जैसे आत्मा श्रुतसागर में अवगाहन करती है, वैसे-वैसे उसे अनुपम ज्ञानरत्नों की उपलब्धि होती है । इस प्रकार वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षा ये चारों श्रुतधर्म के अंतर्गत रहे हुए धर्मध्यान के आलंबन हैं ।

इसके उपरांत सामायिक, स्तुति, प्रतिक्रमण, पड़िलेहण आदि आवश्यक-क्रियाएँ भी धर्मध्यान के आलंबनरूप हैं । ये क्रियाएँ चारित्रधर्म के अंतर्गत आती हैं ।

आरोहति दृढद्रव्यालंबनो विषमं पदम् ।
तथारोहति सद् ध्यानं सूत्राद्यालंबनाश्रितः ।।32।।

अनुवाद :- जैसे दृढ़ वस्तु (मजबूत रस्सी आदि) के आलंबन वाला व्यक्ति विषम स्थान पर भी आरोहण कर सकता है, उसी प्रकार सूत्र आदि के आलंबन को लेने वाला सद् ध्यान पर आरूढ़ हो जाता है ।

विशेषार्थ :- किसी विकट ऊँचे स्थान पर चढ़ाई करना हो, तो कोई-न-कोई आलंबन की आवश्यकता होती है । ऊपर चढ़ने के लिए सहारा हो, तो कष्ट कम होता है, गिरने का भय नहीं होता है और आसानी से लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है । प्रस्तुत श्लोक में सूत्र शब्द का प्रयोग हुआ है । सूत्र का एक अर्थ वाचना होता है तथा दूसरा अर्थ धागा या रस्सी होता है । कितने ही शिखर सीधे और इतने ऊँचे होते हैं कि साधारण मनुष्य तो उन पर चढ़ ही नहीं सकता, किन्तु पर्वतारोही मजबूत रस्सी का उपयोग कर विषम शिखर पर भी चढ़ जाता है । कुए से बाहर आने के लिए मनुष्य रस्सी का उपयोग करता है । उसी तरह धर्मध्यानरूपी पर्वत पर आरोहण करने के लिए सूत्र अर्थात् वाचना, पृच्छना, परावर्तना आदि का आलंबन उपयोगी है ।

आलंबनादरोद्भूतप्रत्यूहक्षययोगतः ।
ध्यानाद्यारोहणभ्रंशो योगिनां नोपजायते ।।33।।

अनुवाद :- आलंबन पर आदर उत्पन्न होने से, विघ्नोंको क्षय करने की भक्ति होने से ध्यानादि पर आरोहित योगियों का पतन नहीं होता है ।

विशेषार्थ :- वाचना, पृच्छना, परावर्तना आदि आलंबनों का आश्रय लेकर ध्यानयोगी अपने धर्मध्यान में दृढ़ बने रहते हैं । उनके दृढ़ होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि उनका आलंबन के प्रति अत्यंत आदर, बहुमान एवं भक्तिभाव रहता है । श्रुत के प्रति अतिशय भक्ति के कारण उनका धर्म के प्रति अनुराग बढ़ता है, अतः उनके हृदय की भक्ति, आदर, बहुमान साधना में सहायक होते हैं ।

मनोरोधादिको ध्यानप्रतिपत्तिक्रमो जिने ।
शेषेषु तु यथायोगं समाधानं प्रकीर्तितम् ।।34।।

अनुवाद :- जिन (केवलज्ञानी) के संबंध में मनोरोध आदि ध्यान की प्राप्ति का क्रम है, शेष के लिए तो यथायोग्य समाधान कहा है ।

विशेषार्थ :- ध्यान का मन-वचन और काया के योग के साथ संबंध है । छद्मस्थ के ध्यान में तो मन-वचन और काया के व्यापारों का कोई निश्चित क्रम नहीं होता है, परंतु शास्त्रकार केवली भगवंत के शुक्ल ध्यान के संबंध में स्पष्ट कहते हैं । केवलज्ञानी महापुरुषों का मोक्ष प्राप्त करने का जब अति निकट समय हो अर्थात् शैलेशीकरण के पहले का अंतर्मुहूर्त का काल हो, तब उन्हें शुक्लध्यान के अंतिम दो भेद ध्यान के चलते हैं । उस समय वे योग निरोध करते हैं, अर्थात् योग का निग्रह करते हैं । इसमें क्रम होता है । वे सर्वप्रथम बादरकाययोग का आश्रय लेकर बादरवचनयोग को, बादरमनोयोग को और श्वासोच्छ्वास को रोकते हैं, फिर सूक्ष्म मनोयोग और अंत में सूक्ष्म काययोग से बादरकाययोग, सूक्ष्म वचनयोग, सूक्ष्म मनोयोग और अंत में सूक्ष्म काययोग को रोकते हैं । इस प्रकार मन-वचन और काया के योगों के निरोध का क्रम निश्चित होता है । यह तो केवलज्ञानी के अंतिम समय में शुक्लध्यान की चर्चा है, परंतु जो नीचे के गुणस्थान पर स्थित हैं, उनके लिए ध्यान-प्राप्ति का निश्चित क्रम नहीं होता है ।

धर्मध्यान के चार भेद

आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात् ।
धर्मध्यानोपयुक्तानां ध्यातव्यं स्याच्चतुर्विधम् ।।35।।

अनुवाद :- धर्मध्यान से युक्त योगियों द्वारा आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान पर चिंतन करने से वह (धर्मध्यान) चार प्रकार का होता है ।

विशेषार्थ :- आर्तध्यान और रौद्रध्यान-इन दो अशुभ ध्यानों को दूर करने के लिए शुभ ध्यान करना चाहिए । चूंकि मनुष्य का मन अति चंचल है, वह खाली नहीं रह सकता है, अत: अशुभ से तोड़ने के लिए मन को शुभ में लगाने पर, उसमें रस पैदा करने पर, अशुभ ध्यान स्वत: छूट जाता है । आर्तध्यान और रौद्र ध्यान से बचाने वाला धर्मध्यान है । आर्तध्यान और धर्मध्यान के चार प्रमुख कारण हैं । (1) विषयराग (2) हिंसा आदि पापों में तीव्र रस और निर्भयता (3) अहंकार और दीनता (4) अज्ञान और मूढ़ता । ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में धर्मध्यान के चार प्रकार बताए हैं–

(1) **आज्ञाविचय-** वीतराग और सर्वज्ञदेवों की क्या आज्ञा है और वह कैसी होनी चाहिए, उसका स्वरूप क्या है ? इस प्रकार वीतराग आज्ञा के विषय में मनोयोग लगाना आज्ञाविचय है । इसमें जिनश्वरदेवों की आज्ञा के प्रति बहुमान रखते हुए इस प्रकार चिंतन किया जाता है कि यह वीतराग-वाणी परम सत्य है, तथ्य है, निश्शंक है ।

(2) **अपायविचय-** हिंसादि पापों से और राग-द्वेष-कषाय आदि के दुष्परिणामों के चिंतन में मन को एकाग्र करना अपायविचय-धर्मध्यान है । राग-द्वेषादि से कैसे-कैसे अनर्थों का जन्म होता है एवं जीव को कैसे-कैसे कष्ट भोगने पड़ते हैं ।

(3) **विपाकविचय-** अनुभव में आने वाले शुभाशुभ कर्मफलों में से कौन-सा फल किस कर्म के कारण है, कौनसे कर्म का क्या फल है, इसके विचारार्थ मनोयोग को लगाना विपाकविचय है । आत्मा अपने द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल पाती है । अपने कर्म ही सुख-दु:ख के दाता हैं, कोई अन्य नहीं ।

(4) **संस्थान विचय-** धर्मध्यान का चौथा प्रकार संस्थानविचय है । संस्थान,

अर्थात् संरचना, व्यवस्था, स्थिति इत्यादि । चौदह राजलोक और जीव-अजीवादि छह द्रव्यों की स्थिति कैसी है ? और इस विराट् विश्व की व्यवस्था कितनी अद्‌भुत है-यह चिंतन करते-करते स्वयं की अल्पता तथा विश्व के रहस्यों को समझने की स्वयं की अशक्ति इत्यादि की प्रतीति होती है । जैसे-जैसे रहस्य समझ में आता है, वैसे-वैसे जीव की मूढ़ता (मोह) दूर हो जाती है । इस प्रकार धर्मध्यान अशुभ ध्यान को अवरुद्ध करता है ।

नयभंगप्रमाणाढ्यां हेतूदाहरणान्विताम् ।
आज्ञां ध्यायेज्जिनेन्द्राणां प्रामाण्याकलंकिताम् ।।36।।

अनुवाद :- नयभंग और प्रमाण से व्याप्त, हेतु और उदाहरण से युक्त तथा प्रामाणिक-ऐसी जिनेश्वर की आज्ञा का ध्यान करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- धर्मध्यान के चार प्रकारों में प्रथम आज्ञाविचय है, अर्थात् जिनेश्वर की आज्ञा पर चिंतन करना । परमात्मा की वाणी कैसी है ? अर्थात् जिनेश्वर का स्वरूप प्रस्तुत श्लोक में दर्शाया गया है । जिनवाणी की महिमा अनेक शास्त्रकार भिन्न-भिन्न विशेषणों द्वारा दर्शाते रहे हैं । उपाध्याय यशोविजयजी ने भी जिनवाणी के कुछ महत्त्वपूर्ण लक्षण यहाँ दर्शाये हैं ।

जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा जगत् के अंधकार को नष्ट करने में दीपक के समान होती है । जिनवाणी नयभंग और प्रमाणों से समृद्ध है । नय, अर्थात् एक अपेक्षा अथवा एक दृष्टिकोण, भंग अर्थात् प्रकार, प्रमाण अर्थात् सर्वांश, जो वस्तु के संपूर्ण स्वरूप को व्यक्त करे । जिनवाणी का कोई भी कथन नय के बिना नहीं कहा गया है, अर्थात् कोई भी कथन निरपेक्ष नहीं है, एकांत नहीं है । दो नय परस्पर विरुद्ध होते हैं, तो भी दोनों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे-पर्यायार्थिक-नय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य है और द्रव्यार्थिक-नय की अपेक्षा से आत्मा नित्य है । नय पदार्थ का अनैकांतिक दर्शन कराता है ।

जिनेश्वर भगवान् की वाणी हेतु और उदाहरणों से युक्त होती है । कितने ही जीवों को समझाने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है । हेतु, अर्थात् प्रयोजन, किसी कथन का क्या प्रयोजन है ? किसलिए वह कथन कहा गया ? आदि स्पष्ट होते हैं ।

परमात्मा की वाणी प्रामाणिक है । प्रत्यक्षप्रमाण, परोक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण, उपमानप्रमाण आदि विविध प्रकार के प्रमाण हैं । परमात्मा की वाणी सभी प्रकार के प्रमाणों से सिद्ध है ।

रागद्वेषकषायादिपीडितानां जनुष्मताम् ।
ऐहिकामुष्मिकांस्तांस्तान्नापायान् विचिन्तयेत् ।।37।।

अनुवाद :- राग, द्वेष, कषाय आदि से पीड़ित जीवों के ऐहिक और परलोक संबंधी उन-उन विविध प्रकार के अपायों (कष्टों) का विचार करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- धर्मध्यान का दूसरा प्रकार अपायविचय है । अपाय अर्थात् कष्ट, दु:ख, अनर्थ । जीव अनादिकाल से चौरासी लाख योनियों में भवभ्रमण करते हुए कितने ही कष्टों का, अनर्थों का अनुभव करता है । भवभ्रमण का कारण कर्म और कर्म का कारण कषाय है । राग-द्वेषरूपी भावों से युक्त होने के कारण जीव कर्मबंध करता है । कर्मसंयोग के कारण उसे चतुर्गति में जन्म लेना पड़ता है और जन्म लेने से शरीर का संयोग होता है । उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष को कर्म का बीज कहा गया है । राग-द्वेष करना जीव का स्वभाव नहीं है, परंतु विभाव दशा में अज्ञानता के कारण जीव राग से, द्वेष से कषाय करके अत्यंत दु:ख उठाता है । राग से लोभ का जन्म होता है और क्रोध से अहंकार का जन्म होता है । दृष्टि राग, कामराग, स्नेहराग और द्वेष रूपी अग्नि से जीवन में दु:ख, अशांति, आकुलता, व्याकुलता का अनुभव होता है । चारों कषायों और मिथ्यात्व से भयंकर अनर्थों का जन्म होता है और भारी कर्मबंध होते हैं ।

ध्यायेत्कर्मविपाकं च तं तं योगानुभावजम् ।
प्रकृत्यादिचतुर्भेदं शुभाशुभविभागत: ।।38।।

अनुवाद :- उन-उन योग के प्रभाव से उत्पन्न हुए और प्रकृति आदि चार प्रकार के कर्मों के विपाक का शुभ और अशुभ के विभाग से ध्यान करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- धर्मध्यान का तीसरा प्रकार विपाकविचय है अर्थात् कर्म के फल के विषय में चिंतन करना विपाकविचय है ।

इस संसार में कितनी ही विषमताएँ देखने को मिलती हैं, शुभ-अशुभ

फल देखने को मिलते हैं । सारा विश्व कर्म के आधीन हैं । कर्मसत्ता जीव को कैसे-कैसे नाच नचा रही है । कोई दु:खी है, कोई सुखी, कोई मंदबुद्धि है, किसी को बहुत परिश्रम करने के बाद भी याद नहीं होता है, तो किसी को अल्प परिश्रम करने पर ही सफलता मिल जाती है । जो कर्म के विपाकों का चिंतन करता है, वह विषम, प्रतिकूल प्रसंग में भी यह कैसे हुआ ? यह किस तरह संभव है ? आदि प्रश्न उपस्थित करके उद्विग्न नहीं होता है । कर्मविपाक के विज्ञान और कर्मबंध के विज्ञान को जानने वाले को सुख-दु:ख के द्वंद्व स्पर्श नहीं कर पाते हैं । कर्मोदय चाहे शुभ हो या अशुभ वे उसमें खो कर किसी प्रकार की सुख-दु:ख की कल्पना नहीं करते हैं । संसार की प्रत्येक घटना के पीछे रहे हुए कर्मतत्त्व की गहरी और वास्तविक जानकारी, चिंतन-मनन करने से दीनता और अभिमान, विस्मय आदि नष्ट हो जाते हैं ।

कर्म की प्रकृति, अर्थात् स्वभाव- बँधाते हुए कर्मों में से भी कोई आत्मा के ज्ञानगुण को आवरित करता है, कोई दर्शनगुण को आवरित करता है, किसी कर्म का स्वभाव, साता-असाता प्रदान करने का होता है, अत: उनके स्वभाव के आधार पर भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय आदि आठ प्रकार के कर्म मन-वचन-काया के योग से बँधते हैं ।

उत्पादस्थितिभंगादिपर्यायैर्लक्षणै: पृथक् ।
भेदैर्नामादिभिर्लोकसंस्थानं चिन्तयेद्धृतम् ।।39।।

अनुवाद :- उत्पत्ति, स्थिति, विनाश आदि पर्यायरूपी लक्षणों द्वारा तथा नाम आदि पृथक भेदों से युक्त लोकसंस्थान का चिंतन करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- चौथे प्रकार का धर्मध्यान संस्थानविचय है । इस प्रकार के धर्मध्यान में चौदह राजलोक समग्र संसार का चिंतन किया जाता है । इस संसार में छह द्रव्य हैं-जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल इन छह द्रव्यों के लक्षण, आकृति, आधार, प्रकार आदि तथा उत्पाद-व्यय से युक्त पर्यायों का चिंतन किया जाता है । यह संसार सब पर्यायों का खेल है । पर्यायों के आधार पर ही संबंध बनते हैं । कोई भी वस्तु या जीव द्रव्यरूप में नित्य और पर्यायरूप मे अनित्य है । पर्याय बनती है और बिगड़ती है । पर्याय की उत्पत्ति होती है और नाश होता

है, किन्तु द्रव्यरूप में वस्तु नित्य है ।

पर्याय को पर्यायरूप में देखें, तो धर्मध्यान और पर्याय को ही यथार्थ समझकर राग-द्वेष करें, तो कर्मबंध होता है । पुनः नाम, स्थान, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, लोक इस प्रकार आठ भेद से भी लोक का चिंतन किया जाता है । देवलोक, नरक आदि सहित चौदह राजलोक के संबंध में चिंतन किया जा सकता है ।

जीव के लक्षण, देह की नश्वरता, कर्म का कर्ता, कर्म का भोक्ता इत्यादि दृष्टि से भी ध्यान कर सकते हैं । संसार एक समुद्र है और चारित्ररूपी जहाज से पार पहुँचकर मोक्षनगरी में जा सकते हैं, इत्यादि प्रकार का भी ध्यान कर सकते हैं । इस प्रकार संस्थानविचय में पदार्थों का चिंतन विस्तार से कर सकते हैं ।

चिन्तयेत्तत्र कर्तारं भोक्तारं निजकर्मणाम् ।
अरूपमव्ययं जीवमुपयोगस्वलक्षणम् ।।40।।

अनुवाद :- जीव उपयोगरूपी स्वलक्षणवाला, स्वयं के कर्म का कर्ता और भोक्ता है, अरूपी है, अव्यय है, इसका संस्थानविचय में चिंतन करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- संस्थानविचय नामक धर्मध्यान में चौदहराजलोक उपरांत छह द्रव्यों में मुख्य ऐसे जीवद्रव्य का भी चिन्तन करना चाहिए । जीव के संसारी और सिद्ध-दोनों स्वरूपों के विषय में क्या चिन्तन करना है ? जीव के स्वरूप और उसके लक्षणों का चिन्तन अत्यंत गहन, गंभीर, विशाल है, अतः उनमें से कुछ लक्षणों को ग्रंथकार ने प्रस्तुत श्लोक में दर्शाया है ।

(1) **जीव स्वकर्म का कर्ता है -** अध्यात्म की दृष्टि से जीव का जैसे शुद्धस्वरूप जानना आवश्यक है जिससे उसको प्राप्त किया जा सके, वैसे ही जीव के अशुद्ध स्वरूप को भी जानना आवश्यक है, जिससे उसे हेय समझकर उससे मुक्त होने की भावना उत्पन्न हो ।

जीव अर्थात् आत्मा स्वभाव से शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, इसलिए वह अपने स्वरूप का कर्ता है किन्तु इस संसार में अनादिकाल से वह अशुद्धावस्था अर्थात् कर्मयुक्त अवस्था वाला है । आत्मा और कर्म का

संयोग अनादि है । विभावदशा में अज्ञानता के कारण जीव कर्म का कर्ता तथा भोक्ता है । आत्मा यदि जागृत हो जाए, तो वह पुण्योदय से प्राप्त मोक्ष के हेतुभूत मनुष्य-जन्म आदि सामग्री का सदुपयोग करके, कर्मों का क्षय करके हमेशा के लिए कर्मों से मुक्त हो सकती है ।

(2) **जीव स्वकर्म का भोक्ता है -** जीव स्वभाव से तो स्वयं के स्वरूप का भोक्ता है, परंतु विभावदशा में अज्ञान के कारण बचे हुए कर्म का भी भोक्ता है और जब तक संपूर्ण कर्मों का क्षय नहीं होता है, तब तक बाँधे हुए कर्म उदय में आते रहते हैं । यदि जीव कर्म को भोगने में आसक्त हो जाता है, तो पुनः नये कर्मों का उपार्जन होता है ।

(3) **जीव अरूपी है -** आत्मा स्वभाव से शुद्ध, निरंजन, निराकार, अशरीरी एवं अरूपी है । जब सभी कर्म से मुक्त हुए जीव सिद्धशिला पर विराजमान होते हैं, तब वे अरूपी ही होते हैं और अनंतकालपर्यंत अरूपी ही रहते हैं । जीव संसार में स्वकर्म के कारण, जड़ द्रव्य के आवरण के कारण शरीरधारी दिखाई देता है, आकृतिवाला दिखाई देता है, परंतु यह उसकी विभावदशा है, कर्मकृत अवस्था है । वस्तुतः जीव अरूपी ही है ।

(4) **अव्यय -** अव्यय अर्थात् जिसका व्यय न हो अर्थात् अविनाशी । जो नाश होता है, वह पर्यायों का होता है । आत्मा तो द्रव्यरूप में नित्य है, उसका कभी नाश नहीं होता है । वह कभी उत्पन्न नहीं होती है । आत्मा तो अजर अमर है अनुत्पन्न और अनादि है । अमुक काल में इसकी उत्पत्ति हुई हो-ऐसा नहीं है, परंतु अनादिकाल से कर्मसंयोग के कारण यह जो देह धारण करती है, उसके जन्म-मरण की क्रिया चलती रहती है । आत्मा एक देह का त्याग कर दूसरी देह धारण करती है, परंतु रूपी आत्मा जब सभी कर्मों का क्षय करके शुद्ध स्वरूप में प्रकट होती है, सिद्धशिला पर स्थित होती है, तब वह अव्यय, अरूपी, अविनाशी होती है ।

(5) **उपयोग-लक्षण -** उपयोग जीव का लक्षण है । उप अर्थात् पास और योग अर्थात् जुड़ना । जीव जिसके साथ दृढ़ रूप से जुड़ा हो, वह उपयोग है । ज्ञान और दर्शन के साथ दृढ़ रूप से जुड़ा हुआ होने के कारण जीव

ज्ञानोपयोग वाला और दर्शनोपयोग वाला होता है । जीव का साकार उपयोग या विशेष उपयोग ज्ञानोपयोग है । यह मतिज्ञान आदि की दृष्टि से पाँच ज्ञान एवं तीन अज्ञान मिलकर आठ प्रकार का होता है । निराकार उपयोग या सामान्य उपयोग को दर्शन-उपयोग कहते हैं । इस श्लोक में जीव के पाँच लक्षण बताए गए हैं । दो लक्षण जीव के अशुद्धस्वरूप के अर्थात् संसारी-अवस्था के एवं तीन लक्षण कर्मयुक्त अवस्था के हैं । इस प्रकार जीव के स्वरूप को जानकर उसका चिन्तन-मनन करना भी धर्मध्यान है ।

संसार सागर का स्वरुप

तत् कर्मजनितं जन्मजरामरणवारिणा ।
पूर्णं मोहमहावर्तं कामौर्वानलभीषणम् ।।41।।

आशामहानिलापूर्णकषाय-कलशोच्छलत् ।
असद् विकल्पकल्लोलचक्रं दधतमुद्धतम् ।।42।।

हृदि श्रोतसिकावेलासंपातदुरतिक्रमम् ।
प्रार्थनावल्लिसंतानं दुष्पूरविषयोदरम् ।।43।।

अज्ञानदुर्दिनं व्यापद्विद्युत्पातोद्भवद्भयम् ।
कदाग्रहकुवातेन हृदयोत्कंपकारिणम् ।।44।।

विविध व्याधि संबंधमत्स्यकच्छपसंकुलम् ।
चिंतयेच्च भवांभोधिं चलद्दोषाद्रिदुर्गमम् ।।45।।

अनुवाद :- वह (भवसमुद्र) कर्म से उत्पन्न हुआ, जन्म-जरा-मरणरूपी जल से भरा हुआ, मोह के बड़े भँवर (आवर्त) से युक्त कामरूपी कलशों से उछलता हुआ, असत् विकल्परूपी उद्धत तरंगों के समूह को धारण करता हुआ, हृदय में विषयवासनाओं, इच्छाओंरूपी ज्वार (भरती) के कारण अत्यंत कष्टपूर्वक पार कर सके-ऐसा, प्रार्थना या याचना (वासनाओं के संतोष के लिए)-रूपी लहरों की परंपरावाला, कठिनतापूर्वक तृप्त (क्षणिक) हो ऐसे विषयरूपी उदर (मुख्य भाग) वाला, अज्ञानरूपी दुर्दिन वाला, विपत्तिरूपी बिजली के गिरने से भय को उत्पन्न करने वाला, कदाग्रहरूपी दुष्ट वायु द्वारा

हृदय को कंपित करने वाला तथा विविध प्रकार की व्याधियों रूपी मत्स्य एवं कछुओं से पूर्ण दोषरूपी चलायमान (ग्लेशियर) पर्वतों से दुर्गम-ऐसे भवसमुद्र का चिंतन करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- इन पाँच श्लोकों में संसाररूपी सागर का वर्णन किया गया है । विशाल संसाररूपी सागर कभी सूखता नहीं है तथा इसमें प्रतिदिन जन्मरूपी भरती और मृत्युरूपी ओट उठती हुई होने से, प्राचीनकाल से कविगण संसार का रूपक देते आए हैं । जिस तरह तूफानी-समुद्र को पार करना मुश्किल होता है, वैसे ही राग-द्वेषरूपी तूफानों से युक्त संसाररूपी समुद्र को भी पार करना अत्यंत मुश्किल है । उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने इस संसार को समुद्र से उपमा देकर इसके विभिन्न अंगों को दर्शाया है ।

(1) यह संसाररूपी समुद्र कर्म से उत्पन्न हुआ है । कर्म अनादि है, इसलिए संसार भी अनादि है और सभी जीवों की अपेक्षा से संसार का अंत भी नहीं है ।

(2) वह जन्म-जरा-मरणरूपी जल से भरा हुआ है । यह जल कभी भी सूखता नहीं है । संसार में निरंतर जन्म-जरा और मृत्यु आदि चलते ही रहते हैं ।

(3) यह मोह रूपी बड़े भँवर (आवर्त) वाला है । जैसे भँवर में जहाज आदि फँस जाते हैं, तो वे डूब जाते हैं वैसे ही मोहनीय-कर्म भँवर के समान है । जीव इसमें फँस जाता है, तो संसाररूपी समुद्र में डूब जाता है ।

(4) संसार कामरूपी वड़वानल से भीषण बना हुआ है । जैसे समुद्र में लगी हुई आग पर काबू पाना मुश्किल है, वैसे ही कामरूपी अग्नि के उत्पन्न होने पर, उस पर भी काबू पाना मुश्किल है ।

(5) वह आशारूपी वायु से भरा हुआ है । इच्छाओं, आकांक्षाओं, आशाओं पर संसारी-प्राणी जीवित रहते हैं । कोई-न-कोई आशा बनी हुई रहती है ।

(6) वह क्रोधादि कषायरूपी पाताल-कलशों से उछलता रहता है । जैसे लवण समुद्र में चार महाकलश हैं, इन्हें पाताल-कलश भी कहा जाता है । समुद्र में भरती आने का कारण जलराशि उछलना है और जलराशि के उछलने का कारण समुद्र में रहे हुए पाताल-कलश हैं । संसार में भी क्रोध,

मान, माया और लोभरूपी चार पाताल-कलश हैं, जिससे संसार खलबलाता है ।

(7) संसाररूपी समुद्र में असत् विकल्परूपी भयंकर लहरें उठती रहती हैं ।

(8) संसाररूपी समुद्र में हृदय में उठती हुई वासनाओं के प्रबल प्रवाह के कारण उसको पार करनी मुश्किल है । वासनाओं की पूर्ति कभी नहीं होती है ।

(9) संसाररूपी समुद्र सुख की प्रार्थनारूपी लहरियों की परंपरा वाला है । सभी संसारी प्राणी सुख चाहते हैं, सुख की तलाश करते हैं, उसके लिए प्रार्थना करते हैं । सुख की तलाश में उन्हें अधिकतर दु:ख ही मिलता है । क्योंकि सुख की प्रार्थना, तलाश ही दुख है ।

(10) यह तृप्त विषयरूपी उदरवाला है । कामना पूर्ति या विषयसुख को जितना भोगा जाता है, व्यक्ति उसका आदी हो जाता है । तब सुख पाने के लिए नयी कामना की उत्पत्ति होती है, परंतु भोग से तृप्ति हो जाए एवं फिर नई कामना की उत्पत्ति न हो-ऐसा संभव नहीं है ।

(11) यह संसार अज्ञान (मिथ्यात्व) रूपी दुर्दिन वाला है ।

(12) यह संसार आपत्ति रूपी बिजली के गिरने से भयजनक है । यहाँ निरंतर संकट आते रहते हैं । जीवन में दु:ख सदा ही बना रहने वाला है । जीव एक सुख को प्राप्त करने जाता है, तो अनेकों दु:ख आकर खड़े हो जाते हैं ।

(13) यह संसार कदाग्रहरूपी दुष्ट वायु द्वारा हृदय में कंपन उत्पन्न करने वाला है ।

(14) यह संसार रुपी समुद्र व्याधियों रूपी मछलियों और कछुओं से भरपूर है । **''शरीरं व्याधि मंदिर''**, शरीर को रोगों का घर कहा गया है, क्योंकि यहाँ प्राणी कोई-न-कोई व्याधि से ग्रस्त ही रहते हैं ।

(15) यह संसाररूपी समुद्र दोषरूपी जंगम और चलायमान विशाल हिमशैलखण्डों से दुर्गम है । जैसे बर्फ के पर्वत से टकराकर जहाज आदि नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही सांसारिक-जीवन में अनेक दोष व्यक्ति के जीवन को नष्ट कर देते हैं ।

संसार सागर तरने का उपाय

तस्य संतरणोपायं सम्यक्तवदृढबंधनम् ।
बहुशीलांगफलकं ज्ञान निर्यामिकान्वितम् ।।46।।
संवरास्ताश्रवच्छिद्रं गुप्तिगुप्तं समन्ततः ।
आचारमंडपोद्दीपतापवादोत्सर्गभूद्वयम् ।।47।।
असंख्यैदुर्धरैर्योधैर्दुष्प्रधृष्यं सदाशयैः ।
सद्योगकूपस्तंभाग्रन्यस्ताध्यात्मसितांशुकम् ।।48।।
तपोऽनुकूलपवनोद्धूतसंवेगवेगतः ।
वैराग्यमार्गपतितं चारित्रवहनं श्रिताः ।।49।।
सद्भावनाख्यमंजूषान्यस्तसच्चित्तरत्नतः ।
यथाऽविघ्नेन गच्छन्ति निर्वाणनगरं बुधाः ।।50।।

अनुवाद :- उसे (संसाररूपी सागर को) तैरने के उपाय के रूप में सम्यक्त्वरूपी दृढ़बंधन वाले, बहुशीलांगरूपी पटिए (या नाव) साथ में ज्ञानरूपी निर्यामक-संवर द्वारा जिसके आस्रव-छिद्र बंद कर दिए गए हैं, चारों ओर से गुप्तियों द्वारा रक्षित है, अपवाद और उत्सर्गरूपी दो मंजिलों से युक्त और आचाररूपी मंडप से प्रदीप्त है, सदाशयरूपी असंख्य दुर्धर योद्धाओं के कारण अपराजित, सद्योगरूपी अनुकूल पवन से उत्पन्न हुए, संवेगरूपी वेग से वैराग्यरूपी मार्ग पर आरूढ़, चारित्ररूपी वाहन में बैठे हुए ज्ञानी सद्भावना नामक पेटी में शुद्ध चित्तरूपी रत्न रखकर निर्विघ्न रूप से निर्वाण-नगर में पहुँच जाते हैं ।

विशेषार्थ :- श्री **जिनभद्रगणि** ने **ध्यानशतक** में संसाररूपी सागर को तैरने के लिए चारित्ररूपी जहाज की उपमा दी है । उसी का अनुसरण करते हुए हरिभद्रसूरि और फिर उपाध्याय यशोविजयजी ने भी इस उपमा का प्रयोग किया है । इसमें थोड़ा अंतर है । सागर बहुत विशाल, गहन तूफानी हो, तो उसे पार करने के लिए साधन भी पूर्ण सुरक्षित और मजबूत होना चाहिए ।

यह संसाररूपी सागर मोह, मिथ्यात्व, कषाय, कदाग्रह, जन्म,

मरण, व्याधियों से अत्यंत दुर्गम है, अतः इस विषम संसार को पार करने के लिए सामग्री और शक्ति भी अधिक चाहिए, इसलिए इस समुद्र को तरने के लिए चारित्ररूपी जहाज तैयार किया गया। शीलांगरूपी पटिए और सम्यक्त्वरूपी दृढ़ बंध से उसे बाँधा गया। इसमें उत्सर्ग और अपवादरूपी दो मंजिलें हैं तथा आचाररूपी मंडप तैयार किया गया है।

इसमें मिथ्यात्व आदि आस्त्रवरूपी जो छिद्र हैं, इनसे कर्मरूपी पानी चारित्ररूपी जहाज में आता है, जिससे डूबने का भय रहता है, अतः उन छिद्रों को संवर (पाँच समिति, तीन गुप्ति, बारह भावना, बाईस परीषह, दस यतिधर्म और पाँच चारित्र) के द्वारा बंद कर दिया गया है। इसमें सद्योग रूपी कूपस्तंभ के ऊपर अध्यात्म रूपी श्वेत रेशमी वस्त्र बाँधा गया है जिससे जहाज को चलने में अनुकूलता रहे। सुकानी या नाविक के रूप में ज्ञान का चयन किया, क्योंकि ज्ञान से ही मार्ग प्रकाशित होता है। ज्ञान ही व्यक्ति को मोक्षमार्ग पर ले जाता है। वाहन के रक्षक के रूप में सदाशय रूपी योद्धाओं को लिया गया। इस वाहन में ज्ञानी बैठे हैं उनके पास में सद्भावना रूपी मंजूषा में शुद्ध उपयोग रूपी रत्न है। वाहन गतिमान हुआ और उसने वैराग्य रूपी दिशा पकड़ी। तप रुपी तीव्र अनुकूल पवन के कारण संवेग रूपी वेग प्राप्त हुआ। इस कारण यह जहाज सुरक्षित रूप से निर्वाणरूपी नगरी में पहुँच गया।

इस प्रकार संसाररूपी सागर और उसे पार करने के लिए चारित्ररूपी जहाज की उपमा संस्थानविचय नामक धर्मध्यान के लिए प्राचीन समय से दी जाती रही है।

यथा च मोहपल्लीशे लब्धव्यतिकरे सति।
संसारनाटकोच्छेदाशंकापंकाविले मुहुः ।।51।।

सज्जीकृतस्वीयभटे नावं दुर्बुद्धिनामिकाम्।
श्रिते दुर्नीतिनौवृन्दारूढशेषभटान्विते ।।52।।

आगच्छत्यथ धर्मेशभटौघे रणमंडपम्।
तत्त्वचिन्तादि-नाराचसज्जीभूते समाश्रिते ।।53।।

मिथो लग्ने रणावेशे सम्यग्दर्शनमंत्रिणा।
मिथ्यात्वमंत्री विषमां प्राप्यते चरमां दशाम् ।।54।।

लीलयैव निरुद्धयन्ते कषायचरटा अपि ।
प्रशमादि महायोधैः शीलेन स्मरतस्करः ।।55।।

हास्यादिषट्कलुंटाकवृन्दं वैराग्यसेनया ।
निद्रादयश्च ताड्यन्ते श्रुतोयोगादिभिर्भरैः ।।56।।

भटाभ्यां धर्मशुक्लाभ्यामार्त्तरौद्राभिधौ भटौ ।
निग्रहेणेन्द्रियाणां च जीयते द्रागसंयमः ।।57।।

क्षयोपशमतश्चक्षुर्दर्शनावरणादयः ।
नश्यत्यसातसैन्यं च पुण्योदयपराक्रमात् ।।58।।

सह द्वेषगजेन्द्रेण रागकेसरिणा तथा ।
सुतेन मोहभूपोऽपि धर्मभूपेन हन्यते ।।59।।

ततः प्राप्तमहानंदा धर्मभूपप्रसादतः ।
यथा कृतार्था जायन्ते साधवो व्यवहारिणः ।।60।।

अनुवाद :- जब मोहराजा ने इस वृत्तान्त (घटना) को जाना, तो संसाररूपी नाटक के उच्छेद की शंकारूपी कीचड़ से बार-बार मलिन हुआ । उसने अपने सुभटों को तैयार करके दुर्बुद्धि नामक नौका में बैठाया और शेष को दुर्नीतिरूपी नौका में बैठाया । तब तत्त्वचिंतनादिरूपी बाणों से सजे हुए सुभटों के समूह के साथ धर्मराजा रणमैदान में आ पहुँचा । परस्पर उनके बीच रणयुद्ध होते ही सम्यग्दर्शनरूपी मंत्री द्वारा मिथ्यात्वरूपी मंत्री को मृतप्राय कर दिया गया ।

विचिन्तयेत्तथा सर्वं धर्मध्याननिविष्टधीः ।
ईदृगन्यदपि न्यस्तमर्थजातं यदागमे ।।61।।

अनुवाद :- धर्मध्यान में जिसकी बुद्धि रम गई है, उसे आगम में निरूपित अन्य पदार्थों के विषय में भी चिंतन करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रस्तुत श्लोक में निर्देश दिया है कि आगम में निरूपित ऐसे अन्य पदार्थों के विषय में भी ध्यान कर सकते

हैं, जैसे-नाभि के अंदर सोलह पंखुड़ियों वाले कमल का चिंतन करना । उस कमल के प्रत्येक पत्र में अनुक्रम से अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ,ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः-इन सोलह स्वरों की स्थापना करना ।

फिर हृदय में आठ पंखुड़ी वाले कमल का चिन्तन करना । उसमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अंतराय-इन आठ कर्मों को अनुक्रम से एक-एक पंखुड़ी में स्थापित करना और उस कमल का मुख नीचे रखना, अर्थात् सोलह पंखुड़ी वाले कमल के ठीक ऊपर उल्टे आधारहीन आठ पंखुड़ी वाले कमल का चिंतन करना । फिर, नीचे स्थित कमल के मध्य अर्हं अक्षर में से धीरे-धीरे निकलती हुई धुएँ की शिखा का चिंतन करना । तत्पश्चात्, उसमें से अग्नि के कण निकलते हुए देखना । पुनः उसमें से अनेक ज्वालाएँ उठती हुई देखना । उन ज्वालाओं के समूह से हृदय में स्थित आठ कर्मों से बने हुए आठ पंखुड़ी वाले उल्टे कमल को जलते हुए का चिंतन करना ।

अर्हं के ध्यान से उत्पन्न हुई प्रबल अग्नि अवश्य कर्मयुक्त कमल को जला रही है - इस प्रकार चिंतन करना । फिर शरीर के बाहर त्रिकोण अग्नि का समूह स्वस्तिक द्वारा चिह्नित और वह्नि बीज `र' कार सहित का चिंतन करना । फिर, शरीर के अंदर महामंत्र के ध्यान से उत्पन्न हुई अग्नि की ज्वाला एवं शरीर के बाहर अग्निकोण की ज्वाला-इन दोनों ज्वालाओं द्वारा देह तथा आठ कर्मों से युक्त कमल को जलाकर राख कर देना । फिर, अग्नि को शांत कर देना । फिर, प्रचंड वायु का चिंतन करना और जो राख है, उसे वायु द्वारा उड़ती हुई देखना । फिर, प्रबल वायु को धीरे-धीरे शांत करना । फिर मेघ से पूर्ण आकाश का चिंतन करना एवं उसमें अर्द्धचंद्राकार कलाबिन्दु सहित वरुण-बीज (वँ) का चिंतन करना । फिर वरुण-बीज से उत्पन्न हुए अमृत जैसे पानी से आकाश में उड़ी हुई रज को पानी से साफ कर देना ।

फिर, निर्मल कांतिवाले और सर्वज्ञ जैसी अपनी आत्मा का चिंतन करना । फिर, सिंहासन के ऊपर आरूढ़ सभी अतिशयों से सुशोभित सभी कर्मों का नाश करने वाली, उत्तम महिमावाली, अपने शरीर के अंदर रही हुई निराकार आत्मा का स्मरण करना चाहिए ।

धर्मध्यान के अधिकारी

मनसश्चेन्द्रियाणां च जयाद्यो निर्विकारधीः ।
धर्मध्यानस्य स ध्याता शान्तो दान्तः प्रकीर्तितः ।।62।।

अनुवाद :- मन और इन्द्रियों पर विजय पाने से जो निर्विकार बुद्धिवाले होते हैं-ऐसे शान्त और दान्त (मुनि) धर्मध्यान के ध्याता कहे गए हैं ।

विशेषार्थ :- ध्यान करने वाले व्यक्ति में क्या-क्या योग्यताएँ होनी चाहिए ? कौन व्यक्ति ध्यान करने के योग्य है ? इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत श्लोक में किया गया है । सर्वप्रथम ध्यान करने का अधिकारी वही हो सकता है, जिसने मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली हो । अश्व को काबू में रखे और उस पर लगाम चढ़ाए, तभी सवार उस पर चढ़कर चाहे जहाँ पहुँच सकता है । अनियंत्रित मन की प्रवृत्ति तो विषय और कषाय की ओर ही होगी, अतः मन से, इन्द्रियों से पराजित व्यक्ति ध्यान के योग्य नहीं होता है । इन्द्रियों और मन पर जिसका स्वामित्व हो-ऐसा व्यक्ति ही धर्मध्यान का अधिकारी है, अतः निर्विकार बुद्धिवाले, शान्त और दान्त मुनि ही वास्तविक रूप में ध्यानस्थ हो सकते हैं । जब तक व्यक्ति आर्तध्यान और रौद्रध्यान में ही रत हो, तब तक वह धर्मध्यान में स्थिर नहीं हो सकता है ।

परैरपि यदिष्टं च स्थितप्रज्ञस्य लक्षणम् ।
घटतेह्यत्र तत्सर्वं तथा चेदं व्यवस्थितम् ।।63।।

अनुवाद :- अन्य दर्शनियों ने भी जो स्थितप्रज्ञ के लक्षण कहे, वे सब यहाँ घट सकते हैं, इसलिए यह भी व्यवस्थित ही है ।

विशेषार्थ :- ग्रंथकर्ता उपाध्याय यशोविजयजी ने जैन-दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनों का भी तलस्पर्शी अध्ययन किया था इसलिए इनके ग्रंथ में अन्य दर्शनों के साथ तुलना स्वाभाविक रूप से आ जाती है । पुनः दूसरी ओर कितने ही लोग ऐसे होते हैं कि उनको स्वयं के धर्म की, दर्शन की इतनी जानकारी नहीं होती है अपने शास्त्रों का ज्ञान नहीं होता है इसलिए अन्य दर्शनों की कुछ बात सुनकर वे खुश हो जाते हैं । इसकी तुलना के लिए ग्रंथकार ने पश्चात् के चार श्लोक **भगवद्गीता** से लिये हैं ।

भगवद्-गीता के चार श्लोक

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।64।।

अनुवाद :- हे अर्जुन ! जब (साधक) मन में आई हुई संपूर्ण कामनाओं का अच्छी तरह से त्याग कर देता है (और) अपने-आप से अपने-आप में ही संतुष्ट रहता है, तब (वह) स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

विशेषार्थ :- ग्रंथकार उपाध्याय यशोविजयजी ने **श्रीमद्भगवद्गीता** के दूसरे अध्याय के चार श्लोक (55-58) यहाँ दिये हैं । इन श्लोकों में श्रीकृष्ण अर्जुन को संबोधित कर उसे स्थितप्रज्ञ के लक्षण समझाते हैं । जैनदर्शन में जो धर्मध्यानयोगी हैं, वही गीता में स्थितप्रज्ञ हैं ।प्रस्तुत श्लोक में स्थिरबुद्धिवाले के दो लक्षण बताये हैं-स्थितप्रज्ञ उसे कहते हैं जिसने सभी कामनाओं का संपूर्ण रूप से त्याग कर दिया हो और जो स्वयं की आत्मा में ही संतुष्ट हो ।

यहाँ कामनाओं के त्याग पर जोर दिया गया है । शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि से तादात्म्य होने के कारण मनुष्य मन में उठने वाली कामनाओं को अपने में मान लेता है । अपने स्वरूप का कभी त्याग नहीं होता है, त्याग उसी का होता है, जो अपना नहीं है, पर उसको अपना मान लिया है । मनुष्य की विविध प्रकार की ऐषणाओं को शास्त्रकारों ने चार भागों में बाँट दिया है- दारेषणा, पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा । पुरुष को स्त्री के साथ और स्त्री को पुरुष के साथ कामभोग की प्रबल वासना रहती है । तदुपरांत, संतानप्राप्ति की तथा धनप्राप्ति की इच्छा रहती है । कई लोग इन तीनों इच्छाओं पर तो विजय प्राप्त कर लेते हैं, परंतु लोकेषणा पर विजय प्राप्त करना अत्यंत कठिन है । स्वयं की लोगों में प्रसिद्धि हो, यशकीर्ति में वृद्धि हो, लोकनेता बने आदि महत्त्वाकांक्षाएँ बनी रहती हैं ।

कामनाओं पर विजय प्राप्त करने वाला व्यक्ति अंतर्मुखी हो सकता है । जो अंतर्मुखी होता है, वही आत्मविचार, आत्मज्ञान, आत्मध्यान की ओर आगे कदम बढ़ाता है । वही अध्यात्ममार्ग का सच्चा प्रवासी बन सकता है । उसे स्वयं में ही इतना आनंद, इतना संतोष प्राप्त हो जाता है कि फिर कोई भी भौतिक-सुख उसे आकर्षित नहीं कर सकते हैं । अंत:करण में किसी प्रकार

की कोई भी इच्छा न हो-यह संतोष गुण है और स्वयं में असंतोष का अत्यन्ताभाव हो-यह संतोष स्वरूप है । यह स्वरूपभूत संतोष स्वतः सर्वदा रहता है । स्वरूपभूत संतोष में प्रज्ञा स्वतः स्थिर होती है । इस प्रकार, आत्मसंतुष्ट, आत्मज्ञानी, आत्मस्थ व्यक्ति ही स्थितप्रज्ञ बन सकता है ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।65।।

अनुवाद :- दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता है, सुखों में जिसकी स्पृहा नष्ट हो गई है, जो राग, भय और क्रोध से सर्वथा रहित हो गया है, (वह) मननशील मनुष्य स्थिरबुद्धि कहा जाता है ।

विशेषार्थ :- स्थितप्रज्ञ संसार में किस तरह रहता है ? किस तरह बोलता है ? इत्यादि अर्जुन के प्रश्नों का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण ने संक्षिप्त तथा मार्मिक-ढंग से स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताए हैं ।

संसार में सभी प्राणियों को सुख-दुःख के अनुभव तो होते ही रहते हैं । संसार में प्राणीमात्र को सुख पसंद है, दुःख किसी को भी पसंद नहीं है । सभी सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता है, परंतु नैसर्गिक नियम यह है कि सुख को सदा बनाए रखने की चाह होने पर भी सुख चला ही जाता है और न चाहने पर भी दुःख बिना बुलाए ही आ जाता है । ज्ञानी सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान-संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता में, हर्षविषाद नहीं करते हैं एवं इनसे प्रभावित नहीं होते हैं । मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप व गंध से वे विरक्त होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी या स्थितप्रज्ञ चाहे जैसे प्रतिकूल प्रसंग में, विपत्ति में उद्विग्न नहीं होते हैं, उनकी प्रसन्नता लेशमात्र भी कम नहीं होती है । वे दुःख को समभाव से सहन कर लेते हैं । स्थितप्रज्ञ का सभी वस्तुओं, व्यक्तियों, यहाँ तक कि स्वयं के शरीर आदि पर से भी स्वामित्वभाव, मैं और मेरेपन का भाव नष्ट हो जाता है, वैसे ही सुख या अनुकूलता के प्रसंग में भी वे हर्षित नहीं होते हैं, अभिमान नहीं करते हैं, बल्कि अनासक्त रहते हैं ।

पदार्थों में राग होने पर अगर कोई सबल व्यक्ति उन पदार्थों का नाश करता है, उनके मिलने में बाधक बनता है, तो उसके प्रति क्रोध का भाव

उत्पन्न होता है, परंतु जो अनासक्त भाव से जीवन जी रहे हैं, जो राग से मुक्त हैं, देहातीत अवस्था में रहते हैं, उन्हें संसार की किसी भी वस्तु या व्यक्ति से राग नहीं होता है, शरीर से भी राग नहीं रहता है, अतः वे मृत्यु के भय से भी मुक्त रहते हैं ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।66।।

अनुवाद :- सब जगह आसक्तिरहित हुआ जो मनुष्य उस-उस शुभाशुभ को प्राप्त करके न तो प्रसन्न होता है (और) न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ।

विशेषार्थ :- इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ का एक और महत्त्वपूर्ण लक्षण बताया है । स्थितप्रज्ञ सब जगह स्नेहरहित होते हैं अर्थात् उनको अपने कहलाने वाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान, धन आदि किसी में भी आसक्ति, लगाव नहीं रहता है ।

बाहर से वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ, शरीर आदि का संयोग रहते हुए भी वे भीतर से सर्वथा निर्लिप्त रहते हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिन-जिन अनुकूल और प्रतिकूल वस्तु, व्यक्ति, घटना, परिस्थिति आदि से विकार होने की संभावना रहती है और साधारण लोगों में जिनसे विकार होते हैं, उन-उन अनुकूल-प्रतिकूल वस्तु आदि के कहीं भी, कभी भी और कैसे भी प्राप्त होने पर उसको न अभिनन्दन होता है और न द्वेष ही होता है । उसकी बुद्धि में विवेक पूर्णरूप से जागृत हो जाता है कि संसार में अच्छे-बुरे के साथ वास्तव में उसका कोई संबंध नहीं है, कारण कि ये अच्छे-बुरे अवसर तो बदलने वाले हैं, पर उसका स्वरूप न बदलने वाला है, अतः बदलने वाले के साथ न बदलने वाले का संबंध कैसे हो सकता है ? शरीर से तादात्म्य होने के कारण बुद्धि में फर्क पड़ता है । जब यह तादात्म्य मिट जाता है एवं बुद्धि में जो फर्क पड़ता था, वह मिट जाता है तथा बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है ऐसे स्थिरबुद्धि वाले ही धर्मध्यान के वास्तविक अधिकारी होते हैं ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।67।।

अनुवाद :- जिस तरह कछुआ (अपने) अंगों को सब ओर से समेट लेता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषयों से सभी प्रकार से जो अपने आपको हटा लेता है, उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में कछुए का उदाहरण देकर स्थितप्रज्ञ के एक और लक्षण को दर्शाया गया है । कछुआ उभयचर प्राणी है अर्थात् वह स्थल पर भी चल सकता है और जल में भी रह सकता है । उसकी पीठ वज्र के समान मजबूत होती है । वह ढाल के समान होती है । उस पर प्रहार करने पर भी कछुए को चोट नहीं पहुँचती है, परंतु उसके दूसरे अंग कोमल होते हैं ।

जब कछुआ चलता है तो उसके छह अंग दिखाई देते हैं चार पैर, एक पूँछ और एक मस्तक । जब उसे अल्प भी खतरा नजर आता है, तो वह तुरंत अपने अंगांगों को पीठ के अंदर खींच लेता है तथा सुरक्षित बन जाता है । अब उसे कोई भय नहीं रहता । इन्द्रियों के संरक्षण और संगोपन के लिए जैसी व्यवस्था कछुए को प्राप्त है, वैसी व्यवस्था अन्य किसी भी प्राणी को प्राप्त नहीं है, इसलिए इन्द्रियों के संयम के लिए यहाँ कछुए का उदाहरण दिया गया है ।

कछुए के समान स्थितप्रज्ञ भी पाँचों इन्द्रियों और एक मन-इन छहों को अपने-अपने विषय से हटा लेता है । वह मन से भी विषयों का चिन्तन नहीं करता है । **वह खाते हुए भी उपवासी होता है, देखते हुए भी नहीं देखता है, व सुनते हुए भी नहीं सुनता है ।** कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी परिपक्व बुद्धि स्थिर है, वह अनासक्त है । बाह्य किसी भी विषय से, पदार्थ से उसका मन प्रभावित नहीं होता है । उसमें राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं । इन्द्रिय-निग्रह के कारण उसका मन शान्त हो जाता है । वह आत्मस्वरूप में लीन रहता है । गीता में जो लक्षण स्थितप्रज्ञ के बताए गए हैं, वे ही लक्षण जैनदर्शन में धर्मध्यान योगी के हैं ।

शान्तो दान्तो भवेदीदृगात्मारामतया स्थितः ।
सिद्धस्य हि स्वभावो यः सैव साधक-योग्यता ।।68।।

अनुवाद- जो शान्त, दान्त ओर आत्मरमणता में स्थित होते हैं वे ही इस प्रकार (ध्याता) होते हैं । सिद्धयोगी का जो स्वभाव है, वही साधक योग्यता है ।

विशेषार्थ- धर्मध्यान के अधिकारी के विषय में पुनः यहाँ निर्देश दिया गया है। ग्रंथकर्ता ने पूर्व श्लोक में धर्मध्याता के लक्षण बताते हुए कहा है कि जो मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला, निर्विकार बुद्धिवाला, शान्त और दान्त होता है, वही धर्मध्यान का अधिकारी बन सकता है। जैन-दर्शन के धर्मध्याता तथा गीता के स्थितप्रज्ञ की समानता दर्शाने के पश्चात् ग्रंथकार कहते हैं कि सिद्धयोगी या स्थितप्रज्ञ का जो स्वभाव होता है, वही योग्यता धर्मध्यान के ध्याता की होती है, अर्थात् वह शान्त, दान्त और निर्विकारी होता है। उनके स्वभाव में विकृति नहीं आती है और उन्हें इन्द्रियों को वश में रखने के लिए कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता है, किन्तु ध्यान के साधक को प्रारंभ में इन्द्रियों आदि के प्रति सावधान रहना पड़ता है। सिद्ध का जो स्वभाव है, वह साधक की योग्यता है।

शुक्ल ध्यान के ध्याता

ध्यातायमेव शुक्लस्याप्रमत्तः पादयोर्द्वयोः।
पूर्वविद् योग्ययोगी च केवली परयोस्तयोः ।।69।।

अनुवाद :- यही अप्रमत्त (मुनि) पूर्वधर तथा शुक्लध्यान के दोनों पायों (भेद) का ध्याता है, उसमें बाद के दो भेद, अर्थात् शुक्लध्यान के तीसरे और चौथे पायों के ध्याता सयोगी और अयोगी-केवली (अनुक्रम से) है।

विशेषार्थ :- धर्मध्यान के ध्याता की योग्यता दर्शाने के पश्चात् ग्रंथकार अब शुक्लध्यान के ध्याता की योग्यता बताते हैं।

वस्तुतः धर्मध्यान का जो ध्याता होता है, वही आगे जाकर अधिक योग्यता प्राप्त हो जाने पर शुक्लध्यान का ध्याता बन सकता है। धर्मध्यान का ध्याता प्रमत्त-गुणस्थान वाला हो सकता है और अप्रमत्त-गुणस्थान वाला भी हो सकता है। इसमें अप्रमत्त गुणस्थानक वाला ध्याता यदि शुक्लध्यान के प्रथम दो पायों का ध्यान करे, तो उसे अवश्य पूर्वधर, अर्थात् चौदह पूर्व का ज्ञान होना चाहिए।

श्री जिनभद्रगणि ने **'ध्यानशतक'** में कहा है कि शुक्लध्यान के प्रथम दो पायों का ध्यान करने वाला अप्रमत्त ध्याता पूर्वधर होने के साथ-साथ प्रशस्त संघयण वाला, अर्थात् वज्र-ऋषभ-नाराच-संघयण वाला होना चाहिए।

कषाय की मंदता से, सामर्थ्ययोग के प्रभाव से, चौदह पूर्व के ज्ञान के सूक्ष्म पदार्थों का रहस्य आ ही जाता है। पूर्वधर न भी हो, तो भी ऐसे निर्ग्रन्थ क्षपक को केवलज्ञान हो सकता है। शुक्लध्यान का तीसरा भेद सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति है। यह ध्यान सयोगी-केवली को होता है। सयोगी, अर्थात् मन-वचन-काया के योग वाला। विहार, गोचरी, उपदेश, शंकानिवारण इत्यादि में काययोग, वचनयोग और मनोयोग वाले केवली भगवंतों को शैलेशी-अवस्था प्राप्त होने के पूर्व के अंतर्मुहूर्त में शुक्लध्यान का तीसरा पाया प्राप्त होता है। उसके बाद मन, वचन और काया के योगों का निरोध करके अयोगी-केवली बनकर वे जब शैलेशी-अवस्था प्राप्त करते हैं, तब शुक्लध्यान का चौथा पाया प्राप्त होता है।

अनित्यत्व-द्यनुप्रेक्षा ध्यानस्योपरमेऽपि हि।
भावयेन्नित्यमभ्रान्तः प्राणा ध्यानस्य ताः खलु ।।70।।

अनुवाद :- ध्यान से (धर्मध्यान से) निवृत्त हो जाने के बाद भी अभ्रान्त आत्माओं को हमेशा अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करना चाहिए, क्योंकि वे (अनुप्रेक्षा) वास्तव में ध्यान के प्राणरूप हैं।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में धर्मध्यान करने वाले के लिए एक सलाह दी गई है। कोई भी छद्मस्थ जीव दिन-रात किसी एक प्रकार के ध्यान में सतत नहीं रह सकता है। चित्त अत्यंत चपल है, कब यह ध्यान का विषय छोड़कर अन्य विषय में चला जाए, कुछ कह नहीं सकते। ध्यान के प्रखर अभ्यासी निश्चित समय के लिए एक प्रकार के ध्यान में तन्मय या स्थिर हो सकते हैं, परंतु यह समयावधि पूर्ण होने के बाद उनका मन भी बाह्य-जगत् में चला जाता है, इसलिए इस मन को कभी भी खाली नहीं रहने देना चाहिए। ध्यान करने के लिए दो-तीन निश्चित समयावधि के मध्य जब मन निवृत्त हो जाता है, तब अभ्रान्त आत्माओं को मध्य के समय में अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षाओं द्वारा मन को भावित करना चाहिए।

(1) अनित्य-अनुप्रेक्षा इन्द्रियों के विषय, धन, यौवन और यह शरीर आदि सभी अनित्य हैं-इस प्रकार का चिंतन करना।

(2) अशरण-अनुप्रेक्षा-स्वजन, धन-वैभव आदि संसार में कोई भी

शरण नहीं है, मृत्यु, बीमारी आदि से कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है-ऐसा चिंतन करना ।

(3) संसार-अनुप्रेक्षा-यह चतुर्गतिक संसार दु:ख से भरा हुआ है । संपूर्ण संसार के सभी प्राणी दु:खी हैं । जहाँ स्पृहा है, वहीं दु:ख है । देवों के सुख की भी अंतिम परिणति दु:ख ही है । इस प्रकार मनुष्य, पशु, नरकादि के दु:खों का चिंतन करना ।

(4) एकत्व-अनुप्रेक्षा-'एगो मे सासओ अप्पा-णाणदंसण-संजुओ' ज्ञान-दर्शन से संपन्न मेरी आत्मा शाश्वत है, अन्य सभी संयोग अस्थायी हैं । इस भावना से आत्म-प्रतीति दृढ़ होती है ।

(5) अन्यत्व-अनुप्रेक्षा शरीर, कुटुम्ब, जाति, धन-वैभव आदि से मैं अलग हूँ, ये मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ-ऐसा चिंतन करना ।

(6) अशुचि-अनुप्रेक्षा-यह शरीर अशुचिमय सप्त धातुओं से बना है । रक्त, मांस आदि निंद्य पदार्थ इसमें भरे हुए हैं-इस प्रकार का अनुचिंतन करना ।

(7) आस्त्रव-अनुप्रेक्षा-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, प्रमाद आदि आस्त्रवों के अनिष्टकारी और दु:खद परिणामों पर चिंतन करना ।

(8) संवर-अनुप्रेक्षा-दु:खद आस्त्रवों या कर्मों को रोकने के सम्यक्त्व, व्रत आदि उपायों का, बारह प्रकार के तप के स्वरूप का चिंतन करना ।

(9) निर्जरा अनुप्रेक्षा-कर्मों के क्षय करने के उपायो का, बारह प्रकार के तप के स्वरुप का चिंतन करना ।

(10) लोक-अनुप्रेक्षा-लोक की शाश्वतता, अशाश्वतता, आदि का चिंतन करना ।

(11) बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा-रत्नत्रयरूप बोधि की प्राप्ति जीव को दुर्लभ है । बोधिप्राप्ति किन उपायों से और कैसे होती है इसका बार-बार विचार करना ।

(12) धर्म-अनुप्रेक्षा-क्षमा, मार्दव आदि दस यतिधर्म का चिंतन करना, चारित्रधर्म आदि का चिंतन करना ।

इन बारह भावनाओं की अनुप्रेक्षा करने की सूचना अत्यंत उपयोगी है। चूंकि धर्मध्यान के प्रकार-आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान में जो चिंतन करने के विषय हैं, उनके साथ अनित्यादि भावनाओं का सुमेल है, इसलिए धर्मध्यान की धारा जब टूट जाती है, तब ये अनित्यादि भावनाएँ धारा को जोड़ने में सहायक होती हैं। अनुप्रेक्षा को एक प्रकार से ज्ञान की जुगाली कहा जा सकता है। जैसे गाय आदि पशु खाने के बाद एकान्त शांत स्थान पर बैठकर जुगाली करके भोजन को सुपाच्य बना लेते हैं, उसी प्रकार जाने हुए ज्ञान को अनुप्रेक्षाओं द्वारा हृदयंगम कर लिया जाता है। इन अनुप्रेक्षाओं को ध्यान के प्राणरूप कहा गया है।

धर्मध्यान में लेश्याएं

तीव्रादिभेदभाजः स्युर्लेश्यास्तिस्त्र इहोत्तराः।
लिंगान्यत्रागमश्रद्धा विनयः सद्गुणस्तुतिः ॥71॥

अनुवाद :- यहाँ (धर्मध्यान में) तीव्र आदि भेद वाली अंतिम तीन लेश्याएँ होती हैं। आगमश्रद्धा, विनय और सद्गुणस्तुति-ये इसके लिंग हैं।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में धर्मध्यान की लेश्या तथा धर्मध्यानी को पहिचानने के लक्षण बताए गए हैं। लेश्या छह प्रकार की होती है, उनमें से तीन प्रारंभ की कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ अशुभ होती हैं, जो धर्मध्यानी को नहीं होती हैं। चूंकि धर्मध्यानी के अध्यवसाय निर्मल रहते हैं, अतः उनमें लेश्या भी शुभ ही रहती हैं। अंतिम तीन शुभ लेश्याएँ पीत (तेजो), पद्म और शुक्ल धर्मध्यानी में होती हैं। तीव्रादि भेद, अर्थात् तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम भी ले सकते हैं या तीव्र, मध्यम और मंद भी ले सकते हैं। इनमें यदि पीतलेश्या को तीव्र कहें, तो पद्मलेश्या तीव्रतर और शुक्ललेश्या तीव्रतम शुभ अध्यवसायवाली होती है। साधना के अनुसार उनकी लेश्या उत्तरोत्तर अधिक विशुद्ध बनती जाती है। धर्मध्यान करने वाले के शुभ अध्यवसाय में भी मंदता और तीव्रता हो सकती है, उसी के आधार पर उनकी लेश्या रहती है। धर्मध्यानी को कैसे पहचाना जाए ? उसके लक्षण क्या हैं ? ग्रंथकार ने धर्मध्यानी को पहचानने के लिए प्रमुख तीन लक्षण बताए हैं-प्रथम लक्षण है-

श्रद्धा । उसकी तीर्थंकर परमात्मा के उपदेश, अर्थात् आगम पर अटल श्रद्धा होती है । षड्द्रव्य, नवतत्त्व, आठ कर्म, चौदह गुणस्थान, गुणपर्याय आदि में दृढ़ श्रद्धा होती है । आगम के स्वाध्याय से श्रद्धा अधिक दृढ़ होती है । जिनेश्वर भगवान ने जो भी आज्ञारूप में कहा है, वह यथार्थ और व्यवस्थित है-ऐसी उसको प्रतीति होती है । धर्मध्यानी का प्रमुख लक्षण श्रद्धा कहा गया है । धर्मध्यानी को पहिचानने का दूसरा चिह्न उसमें रहा हुआ विनयभाव है । धर्मध्यानी उद्धत या अविनयी नहीं होता है । वह स्वभाव से नम्र और विनयवान होता है । अगर वह तीर्थंकर भगवान् के काल में होता है, तो तीर्थंकर भगवान का अत्यंत विनयी होता है । विनय से धर्मध्यान करने की पात्रता का विकास होता है ।

धर्मध्यानी का तीसरा लक्षण है-सद्गुण-स्तुति । वह जिनेश्वर भगवान के सद्गुणों का कीर्तन करता है । उनके गुणों की स्तुति-स्तवन भक्तिभाव से मधुर कण्ठ से करता है । वह साधुभगवंतों के निरतिचार चारित्र की प्रशंसा, अनुमोदना करता है । जहाँ भी उसे संयमादि गुण दिखाई देते हैं, वह प्रशंसा किए बिना नहीं रहता है ।

धर्मध्यान का फल

शीलसंयमयुक्तस्य ध्यायतो धर्म्यमुत्तमम् ।
स्वर्गप्राप्तिं फलं प्राहुः प्रौढपुण्यानुबंधिनीम् ।।72।।

अनुवाद :- शील और संयम से युक्त ऐसे उत्तम धर्मध्यान के ध्याता को प्रौढ़ पुण्य के अनुबंधवाला स्वर्गप्राप्तिरूप फल कहा है ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में ग्रंथकार ने धर्मध्यान के फल की ओर ध्यान आकर्षित किया है । हालाँकि निष्कामभाव से बिना किसी फल की आकांक्षा के एकमात्र मोक्षप्राप्ति के ध्येय से ध्यान करना चाहिए, फिर भी हर क्रिया का कोई-न-कोई फल अवश्य होता है ।

धर्मध्यान का यह सामर्थ्य है कि ध्याता अगर शील और संयम से युक्त हो, तो वह उसे स्वर्ग की प्राप्ति कराता है । धर्मध्यान से पुण्य होता है, वह पुण्यानुबंधी-पुण्य होता है । उत्कृष्ट पुण्य के फलस्वरूप उच्च देवगति की

प्राप्ति होती है । उच्च देवलोक में तो निरंतर मोक्षाभिलाषा बनी रहती है और सतत आत्मचिंतन भी चलता है । लेश्या भी शुभ होती है ।

साधु अगर ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करे, शील और संयम की सुंदर आराधना करे, तो उसे उच्च देवलोक प्राप्त होने की शक्यता रहती है । उन्हें वह सुख तृणतुल्य लगता है, किंतु उनका पुण्य ही इतना उत्कृष्ट होता है कि उन्हें उत्कृष्ट देवलोक की ही प्राप्ति होती है । ऊपर के देवों में यद्यपि द्युति, शक्ति, सुख आदि अधिक-अधिक हैं, किन्तु उन्हें अपनी विभूति, तेज, लब्धि आदि का अहंकार नहीं होता है । उनके कषाय मंद होते हैं तथा वे गंभीर स्वभाव वाले होते हैं और वे समकिती होते हैं, इसलिए धर्मध्यान उन्हें देवगति में ले जाते हुए भी परंपरा से मोक्षगति प्राप्त कराने में सहायक होता है ।

शुक्ल ध्यान

ध्यायेच्छुक्लमथ क्षान्तिमृदुत्वार्जवमुक्तिभिः ।
छद्मस्थोऽणौ मनो धृत्वा व्यपनीय मनो जिनः ।।73।।

अनुवाद :- उसके बाद क्षमा, मृदुता, सरलता और निस्पृहता से युक्त छद्मस्थ (मुनि) को परमाणु में मन को जोड़कर और जिन, अर्थात् केवली को मन का निरोध करके शुक्ल ध्यान करना चाहिए ।

विशेषार्थ :- धर्मध्यान के पश्चात् अब चतुर्थ शुक्लध्यान के विषय में निर्देश किया गया है । शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं । इन चारों प्रकारों को चार पाद, पाया या चरण कहा जाता है क्योंकि इन्हें अनुक्रम से ही प्राप्त किया जा सकता है । प्रारंभ के तीन ध्यान आर्तध्यान, रौद्रध्यान और धर्मध्यान कहे गए हैं, उनके उत्तरभेदों में क्रम आवश्यक नहीं है । वे आगे-पीछे हो सकते हैं, परंतु शुक्लध्यान में साधक उसके उत्तरभेदों को अनुक्रम से ही प्राप्त कर सकता है । शुक्लध्यान में, तीसरे प्रकार के ध्यान में प्रवेश करने के बाद पुनः पहले या दूसरे प्रकार में नहीं आ सकते हैं । शुक्लध्यान के ध्याता छद्मस्थ और केवली- दोनों होते हैं ।

यदि शुक्लध्यान को करनेवाला अप्रमत्त-गुणस्थान पर होता है, अर्थात् छद्मस्थ मुनि होता है, तो वह शुक्लध्यान के पहले व दूसरे पाये का या प्रकार का ध्यान करता है और अगर तेरहवें गुणस्थान पर स्थित केवली भगवंत हो,

तो वह तीसरे तथा चौथे प्रकार का शुक्लध्यान करता है ।

श्री जिनभद्रक्षमाश्रमण ने **ध्यानशतक** में संकोच के इस क्रम के लिए तीन दृष्टांत दिए हैं-

(1) विष का दृष्टांत-जैसे किसी व्यक्ति को बिच्छू आदि के डंक मारने पर जहर शरीर में व्याप्त हो गया हो, तो मंत्रविद् शरीर के विभिन्न अंगों का, एक के बाद एक भाग का जहर उतारते-उतारते या संकोचन करते-करते जहाँ डंक लगा हो वहाँ आता है और फिर मंत्र के योग से डंक में से जहर निकाल देता है । इसमें विष-संकोचन का क्रम रहा हुआ है ।

(2) अग्नि का दृष्टांत- एक साथ अनेक लकड़े जलते हुए, अग्नि को कम करते हुए, अंत में अल्प अग्नि को बुझाया जाता है ।

(3) पानी का दृष्टांत-जिस प्रकार किसी बर्तन में पानी गरम होता है, तो अंत में पानी जलते हुए एक बिंदु मात्र रह जाता है, फिर वह भी जल जाता है (बाष्पित हो जाता है) । इस प्रकार ध्यान के विषय का संकोच करते हुए, अंत में एक परमाणु पर ध्याता का ध्यान स्थिर हो जाता है । शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकारों में विषयों का संकोच करते हुए अंत में मन की एकाग्रता एक परमाणु पर स्थिर हो जाती है । यह ध्यान छद्मस्थ को होता है ।

प्रथम शुक्ल ध्यान

सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वं तदादिमम् ।
नानानयाश्रितं तत्र वितर्कः पूर्वगं श्रुतम् ।।74।।

अनुवाद :- सवितर्क, सविचार और सपृथक्त्व-इस प्रकार यह (शुक्लध्यान का प्रथम पाया) है । इसमें विविध नयों का आश्रय करके रहा हुआ पूर्वगत श्रुत वह वितर्क है ।

विशेषार्थ :- शुक्लध्यान शुभ तथा सर्वोत्कृष्ट ध्यान है । यह शोक को पूर्णतया नष्ट करता है, इसलिए भी इसे शुक्लध्यान कहते हैं । शुक्ल, अर्थात् श्वेत, जिसमें स्फटिक की तरह निर्मल भाव रहते हैं । यह शुक्लध्यान चार प्रकार का होता है-(1) सपृथक्त्व, सवितर्क, सविचार (2) एकत्व, सवितर्क, सविचार, (3) सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति (4) समुच्छिन्न (व्यवच्छिन्न) क्रिया

अप्रतिपाती ।

इन चारों प्रकारों में से प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान के तीन लक्षण प्रस्तुत श्लोक में दर्शाए गए हैं-(1) सवितर्क (2) सविचार (3) सपृथक्त्व । तीनों शब्द पारिभाषिक हैं । इनका अर्थ निम्नलिखित है-**वितर्क-**प्रस्तुत श्लोक में वितर्क की जो व्याख्या की गई है, उसके आधार पर वितर्क, अर्थात् विविध नयों का आश्रय करके चौदह पूर्व में रहे हुए श्रुतज्ञान का बोध । चौदह पूर्व में पदार्थ की, अर्थात् तत्त्व की अत्यंत सूक्ष्म, गहन और सविस्तार चर्चा की गई है । इसके आधार पर ध्याता द्रव्यगुण-पर्याय का अत्यंत सूक्ष्म चिंतन कर सकता है, इसलिए यह शुक्लध्यान पूर्वश्रुत के ज्ञाता ही कर सकते हैं ।

विचार-यहाँ विचार शब्द का अर्थ है-विचरण अर्थात् संक्रमण । चित्त का एक विषय से दूसरे पर जाना संक्रमण कहलाता है । अर्थ, व्यंजन और मनादि योगों का जो संक्रमण होता है, उसे विचार या विचरण कहते हैं । अर्थ अर्थात् द्रव्य या पदार्थ और व्यंजन अर्थात् शब्द । योग अर्थात् मन-वचन-काया के योग, जैसे-चित्त का मनोयोग से वचन-योग में, वचनयोग से काययोग में संक्रमण होता है । एक पर्याय में से दूसरी पर्याय में या एक गुण में से दूसरे गुण में संक्रमण होता है, वह विचार कहलाता है ।

पृथक्त्व-पृथक्त्व अर्थात् द्रव्यपर्याय और गुण में अंतरगति करना । द्रव्य से द्रव्य में, पर्याय से पर्याय में और गुण से गुण में चित्त का जाना, यह पृथक्त्व कहलाता है । पृथक्त्व का दूसरा अर्थ भिन्न-भिन्न होता है । इस ध्यान में ध्याता और ध्येय-दोनों भिन्न होते हैं ।

अर्थव्यंजनयोगानां विचारोऽन्योन्यसंक्रमम: ।
पृथक्त्वं द्रव्यपर्याय गुणान्तरगति: पुन: ।।75।।

अनुवाद :- अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योगों का अन्योन्य संक्रम (परिवर्तन) वह विचार तथा द्रव्य, गुण, पर्याय की अंतरगति (संक्रम), वह पृथक्त्व कहलाता है ।

विशेषार्थ :- भेदरूप से श्रुत का विचार जिस ध्यान में होता है, उसे पृथक्त्व सवितर्क सविचार कहते हैं । प्रस्तुत श्लोक में विचार और पृथक्त्व शब्द की व्याख्या की गई है-**अर्थ-**अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थ, ध्येय । ध्येय

वस्तु को ही अर्थ कहते हैं । वह द्रव्य और पर्यायरूप होता है ।

व्यंजन-वचन, शब्द, वाक्य आदि को व्यंजन कहते हैं ।

योग-मन-वचन और काया की प्रवृत्ति से आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होने वाली चंचलता को योग कहा जाता है । चित्तवृत्ति का परिवर्तन संक्रांति कहलाता है । यह तीन प्रकार की है-एक पर्याय से दूसरी पर्याय पर चित्तवृत्ति का गमन अर्थसंक्रांति है । श्रुत के किसी भी एक शब्द से दूसरे शब्द पर चित्तवृत्ति का परिवर्तन **व्यंजनसंक्रान्ति** है । मन-वचन-काया के योगों पर परस्पर एक-दूसरे-तीसरे पर चित्त की वृत्ति का गमन या परिवर्तन योगसंक्रांति है । इस प्रकार से मन की वृत्ति का बदलते रहना **विचार** कहलाता है ।

द्रव्य से द्रव्यांतर, गुण से गुणान्तर, पर्याय से पर्यायान्तर में चित्त का संक्रमण होना **पृथक्त्व** कहलाता है । प्रथम शुक्लध्यान में वितर्क और विचार-दोनों ही होते हैं । इस ध्यान का फल संवर और निर्जरा है ।

त्रियोगयोगिनः साधोर्वितर्काद्यन्वितं ह्यदः ।
ईषच्चलतरंगाब्धेः क्षोभाभावदशानिभम् ।।76।।

अनुवाद :- तीन योग से युक्त योगवाले साधु को वितर्क आदि से युक्त यह (प्रथम प्रकार का शुक्लध्यान) कुछ चपल तरंग वाले समुद्र की क्षोभरहित दशा जैसा होता है ।

विशेषार्थ :- पूर्व के दो श्लोकों में प्रथम शुक्लध्यान के लक्षण दर्शाए गए हैं । प्रस्तुत श्लोक में पृथक्त्वसवितर्कसविचार-नामक-शुक्लध्यान को एक सुंदर उपमा द्वारा समझाया गया है ।

सर्वप्रथम यह ध्यान सातवें अप्रमत्त गुणस्थान या इससे ऊपर के गुणस्थान पर रहे हुए मुनियों को ही हो सकता है, सामान्य गृहस्थ या देशविरति-श्रावक इस ध्यान के अधिकारी नहीं हैं । अप्रमत्त मुनि मन-वचन-काया-तीनों योग वाले होते हैं और उनका ध्यान वितर्कयुक्त होता है, इसलिए यह ध्यान धीर, गंभीर विशाल समुद्र जैसा होता है । ज्ञान से गंभीर होने के कारण यह विशाल भरती वाले क्षोभित समुद्र जैसा नहीं होता, बल्कि यत्किंचित् कंपवाला, चंचलतावाला, विविध छोटी-छोटी लहरों वाले समुद्र जैसा यह ध्यान होता है ।

एकत्वेन वितर्केण विचारेण च संयुतम् ।
निर्वातस्थप्रदीपाभं द्वितीयं त्वेकपर्ययम् ।।77।।

अनुवाद :- एकत्व से, वितर्क और विचार से संयुक्त एक पर्यायवाला दूसरा (शुक्लध्यान) निर्वात-स्थान पर रही हुई दीपक की ज्योति के समान है ।

विशेषार्थ :- प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान में चित्त एक पर्याय से दूसरी पर्याय में, एक गुण से दूसरे गुण में, एक योग से दूसरे योग में संक्रमण कर सकता है । विकास करते हुए ध्याता शुक्लध्यान के दूसरे पाये में प्रवेश करता है । यहाँ वितर्क तो पूर्ववत् रहता है, परंतु पृथक्त्व की जगह एकत्व आ जाता है । अब ध्याता कोई भी एक ही पर्याय का ध्यान करता है अर्थात् पूर्वश्रुतानुसार किसी भी परमाणु, जीव, ज्ञानादि गुण, उत्पादादि कोई एक पर्याय तथा शब्द, अर्थ तीन योगों में से कोई भी एक योग ध्येयरूप में होता है, अलग-अलग नहीं होता है ।

एक ही ध्येय होने से इसमें अर्थ, व्यंजन और योगों का संक्रमण नहीं होता । चित्तवृत्ति एक ही ध्येय पर स्थिर रहने के कारण इसे एकत्ववितर्क-शुक्लध्यान कहा गया है । इसमें चित्त की वृत्ति अभेदप्रधान होती है, इस कारण अर्थ, व्यंजन और योग की एकरूपता रहती है । इसमें चित्त अधिक स्थिर बन जाता है । प्रथम प्रकार के शुक्लध्यान से इसमें ध्यान की स्थिरता और निर्मलता अधिक होती है । वज्रऋषभनाराच-संघयण वाला शूरवीर, चौदह, दस या नौ पूर्वधारी क्षायिक-सम्यग्दृष्टि जीव ही अंतर्मुहूर्तकाल तक यह ध्यान कर सकता है ।

सूक्ष्मक्रियानिवृत्त्याख्यं तृतीयं तु जिनस्य तत् ।
अर्धरुद्धांगयोगस्य रूद्धयोगद्वयस्य च ।।78।।

अनुवाद :- सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति नामक यह तीसरा ध्यान केवली को होता है । इसमें काययोग का आधा निरोध तथा दूसरे दो योग (मन और वचनयोग) का पूर्ण निरोध होता है ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यान का तीसरा पाया, **सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति** का परिचय दिया गया है । यह ध्यान केवली भगवंत को ही होता है । शुक्लध्यान के दूसरे पाये के अंत में केवलज्ञान प्रकट होता है, तब केवली

भगवंत के मन-वचन-काया के योग आरम्भ होते हैं, इसलिए इनको सयोगी-केवली कहा जाता है। ये तेरहवें गुणस्थानक पर होते हैं। कर्मभूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि वर्ष की होती है और कम-से-कम आठ वर्ष की उम्र में वह दीक्षा ले लेता है। यदि दीक्षा लेते ही उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो जाय तो वे (केवलज्ञानी) जघन्य में दो घड़ी तक और उत्कृष्ट से आठ वर्ष कम एक पूर्व करोड़ वर्ष तक तेरहवें गुणस्थान पर रहते हुए भव्य जीवों को धर्मोपदेश देते हुए विहार करते हैं। जब केवली की आयु अंतर्मुहूर्त शेष रहती है और वेदनीय, नाम तथा गोत्र की भी स्थिति उतनी ही रहती है, तब तीसरा शुक्लध्यान होता है, इसलिए दूसरे पाये और तीसरे पाये के ध्यान के मध्य किसी को घंटे, किसी को दिन, किसी को महीने और किसी को वर्षों का अंतर रहता है। इस तीसरे पाये के ध्यान में योगनिरोध की क्रिया आरम्भ होती है। वचन और मन-योग का निरोध हो जाने के बाद, अर्थात् वचन और मन की कुछ भी स्थूल या सूक्ष्म-क्रिया ही शेष हो, काया का भी आधा योग-निरोध हो गया हो, तब इस तीसरे पाये का ध्यान आरम्भ होता है। इस ध्यान में मनयोग और वचनयोग की पूर्णतः निवृत्ति हो जाती है और काययोग की सूक्ष्मक्रिया की अभी अनिवृत्ति रहती है, इसलिए इस ध्यान को सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति कहा जाता है। इसे सूक्ष्मक्रिया अनिवर्ती भी कहा जाता है, क्योंकि आत्मस्थिरता के परिणाम से अब पीछे नहीं लौटने वाली, सूक्ष्म में से पुनः बाहर नहीं आने वाली-ऐसी, काया की सूक्ष्म-क्रिया है।

तुरीयं तु समुच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति तत्।
शैलवन्निष्प्रकंपस्य लेश्यं विश्ववेदिनः ॥79॥

अनुवाद :- यह चौथा (शुक्लध्यान) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती है वह शैलेशी अवस्था में पर्वत की तरह निष्प्रकंप रहने वाले सर्वज्ञ को होता है।

विशेषार्थ :- तीसरे ध्यान के पश्चात् चतुर्थ समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती ध्यान का प्रारंभ होता है। तीसरे पाये के ध्यान में सयोगी केवली मन और वचन इन दोनों योगों का संपूर्ण निरोध करके काया के बाहर योग का निरोध करते हैं, केवल सूक्ष्म काययोगरूपी श्वासोच्छ्वास की क्रिया शेष रहती है। अब वे तुरंत सूक्ष्मकाय-योग के निरोध करने का प्रबल पुरुषार्थ करते हैं, इसलिए

तीसरे प्रकार के शुक्लध्यान का काल अत्यंत अल्प होता है । इस पुरुषार्थ में वे अडिग रहते हैं और सूक्ष्मकाययोग का निरोध भी करते रहते हैं ।

आत्मप्रदेश-परिस्पंदरूप क्रिया का उच्छेद हो जाने पर समुच्छिन्न-क्रिया-अप्रतिपाती-ध्यानावस्था की प्राप्ति होती है ।

यह सब सूक्ष्मक्रिया तेरहवें गुणस्थान के अंतिमकाल में होती है । सर्वथा कायनिरोध होते ही तेरहवाँ गुणस्थान पूर्ण होता है और अयोगी-केवली नामक चौदहवाँ गुणस्थान आरम्भ होता है । इस चौदहवें अयोगी-केवली के गुणस्थान पर स्थिर केवली के ध्यान को ही समुच्छिन्न-क्रिया अथवा व्यवच्छिन्न-क्रिया अथवा व्युपरत-क्रिया कहा जाता है । सिद्ध-अवस्था प्राप्त न हो, तब तक इस ध्यान से पीछे लौटा नहीं जाता है, इसलिए इसे अप्रतिपाती कहते हैं । इस ध्यान का पुरुषार्थ तेरहवें गुणस्थान के अंतिम समय से प्रारंभ होता है और चौदहवें गुणस्थान पर पूर्ण होता है । शुक्ल ध्यान का तीसरा और चौथा पाया श्रुतज्ञान से रहित होने के कारण **अवितर्क** है ।

जीवप्रदेशों के परिस्पन्द का अभाव होने से तथा अर्थ-व्यंजन व योग-संक्रांति का अभाव होने से **अविचार** है । इस ध्यान के समय आत्मप्रदेश निष्प्रकम्प, निश्चल होने से मेरु-पर्वत के समान स्थिर होते हैं । अतः यह अवस्था शैलेश की तरह स्थिर होने से **शैलेशी अवस्था** कहलाती है । शैल अर्थात् पर्वत और शैलेश अर्थात् पर्वतों में श्रेष्ठ पर्वतों का राजा-ऐसा मेरुपर्वत ।

शुक्लध्यान का फल

एतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानमत्र द्वयोः फलम् ।
आद्ययोः सुरलोकाप्तिरंत्ययोस्तु महोदयः ।।80।।

अनुवाद :- इन चार प्रकार के शुक्लध्यानों में से पहले दो प्रकारों का फल स्वर्गलोक की प्राप्ति है और अंतिम दो का फल मोक्ष है ।

विशेषार्थ :- शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं । प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यान के फल के विषय में चर्चा की गई है । प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई फल तो अवश्य होता ही है । शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार, पृथक्त्व सवितर्क सविचार और एकत्व सवितर्क, सविचार (तत्त्वार्थ में एकत्व-सवितर्क-अविचार) हैं ।

इन दोनों प्रकारों के शुक्लध्यान से विशिष्ट कोटि का शुभास्त्रव होता है और कर्म की निर्जरा भी होती है ।

इस ध्यान की श्रेणी में चढ़े हुए मुनि यदि उपशमश्रेणी से चढ़ाई करते हैं, अथवा कालक्षय से या भवक्षय होने से पतित होते हुए आयुष्य पूर्ण करते हैं, तो वे देवगति में देव बनते हैं । अगर वे क्षपकश्रेणी से चढ़ाई करते हैं, तो केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्षगति प्राप्त करते हैं । **शुक्लध्यान के अंतिम दो पाये सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती और अयोगी-केवलज्ञानी को ही होते हैं,** इसलिए इनका फल तो मात्र मोक्षगति ही है ।

आस्त्रवापायसंसारानुभावभवसंततीः ।
अर्थे विपरिणामं वाऽनुपश्येच्छुक्लविश्रमे ।।81।।

अनुवाद :- शुक्लध्यान के विश्राम के दौरान आस्त्रवों से होते हुए अपायों की, संसार के अनुभव की, भवपरंपरा की, अथवा पदार्थ की विपरीतता की अनुप्रेक्षा करनी चाहिए ।

विशेषार्थ :- किसी भी प्रकार का ध्यान अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं टिक सकता है, अर्थात् किसी भी एक विषय पर चित्त की एकाग्रता अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहती है । तत्पश्चात् विषयांतर हो जाता है । ध्यानयोगी ध्यान करने के पहले समयावधि निश्चित कर लेते हैं । धर्मध्यान से आगे शुक्लध्यान में पहुँचे हुए मुनि ध्यान में अधिक समय तक स्थिर रह सकते हैं, फिर भी अधिक-से-अधिक अंतर्मुहूर्त तक । उसके बाद विश्राम का समय आता है । दो ध्यानयोगों के मध्य के अल्पकाल को ध्यानान्तरिका कहते हैं ।

धर्मध्यान की ध्यानांतरिका में अनित्यादि बारह भावनाओं की अनुप्रेक्षा का निर्देश दिया गया है तथा शुक्लध्यान की ध्यानांतरिका के लिए शास्त्रकारों ने अनुप्रेक्षा के चार विषय सूचित किये हैं । जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भी ध्यानशतक में इन विषयों का निर्देश किया है ।

(1) **आस्त्रव-अपाय-अनुप्रेक्षा-** आस्त्रव का अर्थ है-कर्मों के आने का द्वार । आस्त्रव पाँच प्रकार के होते हैं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । मिथ्यात्व आदि के कारण शरीर की इन्द्रियों आदि के द्वारा प्रतिक्षण शुभाशुभ कर्म बंधते रहते हैं । पाँचों आस्त्रवों में योग को छोड़कर

शेष चार मोहनीयकर्म के उदय के कारण ही होते हैं । मोहनीयकर्म का उदय दसवें गुणस्थान तक रहता है । इस मोहनीयकर्म के कारण जीव इहलोक और परलोक-दोनों में दु:खी होता है ।

(2) **संसार के स्वभाव या संसार के अनुभव की अनुप्रेक्षा-** यह संसार अनादिकाल से चला आ रहा है और अनंतकाल तक चलता रहेगा । समस्त लोकाकाश का कोई भी प्रदेश ऐसा न रहा है, जहाँ कभी जीवों ने जन्म न लिया हो । आकाश-प्रदेश के एक-एक प्रदेश में अनेक बार जीव जन्मे और मरे हैं । इस प्रकार जीवों ने इस संसार में अनंतानंत भव व्यतीत किये हैं । जिस संसार में जीव अनेक प्रकार के दु:ख, चिंता व रोगों की अग्नि-ज्वालाओं में प्रतिदिन जला करता है, उसी संसार से वह राग करता है । इस संसार में मनुष्य की एक चिंता दूर होती है, तो दूसरी चिंता उत्पन्न हो जाती है । मन-वचन-काया में निरंतर विकार उत्पन्न होते रहते हैं । जीव क्षणिक नाशवंत सुख के पीछे दौड़ लगाता है । संसार के रंगमंच पर भाँति-भाँति के नाटक खेलता है । इस प्रकार विषमता से भरा हुआ यह संसार है । धन-दौलत, रिश्ते-नाते कुछ भी स्थायी नहीं रहने वाले हैं, किंतु जीव मोह-मदिरा पीकर दिन-रात पापकर्म में रत रहता है । इन्द्रियों के विषय-सुख विषतुल्य हैं, अंत में दु:ख प्रदान करने वाले हैं, पराधीनता में आबद्ध करने वाले हैं और वक्रता, कठोरता, क्रूरता, कषाय आदि दोषों को बढ़ाने वाले हैं, जबकि आत्म ध्यान का सुख उच्चकोटि का है, सर्वहितकारी है ।

(3) **भवसंतति की अनुप्रेक्षा-** भवसंतति, अर्थात् जन्म-मरण की परंपरा अनादिकाल से चल रही है । प्रत्यक्ष में हम प्रतिदिन कितने ही लोगों को जन्म लेते हुए और कितने ही लोगों को मरते हुए देखते हैं । माता के अशुचिमय उदर में आकर जीव नौ-नौ महीने भयंकर कष्ट उठाता है । जन्म के समय असाध्य वेदना होती है, जैसे लाखों बिच्छुओं ने एकसाथ डंक मारे हों । इस प्रकार भवसंतति-अनुप्रेक्षा से मन को भावित करना चाहिए ।

(4) **विपरिणाम अनुप्रेक्षा-** संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है । जड़ अथवा चेतन पदार्थों की अस्थिरता का चिंतन इस प्रकार करना चाहिए

कि सर्वस्थान अशाश्वत हैं, सर्वद्रव्य परिणामी, सर्वपर्याय परिवर्तनशील हैं। जीवों का भी एक पर्याय में रहना नियत नहीं है। पुद्गल का स्वभाव परिणमनशील है। युवा-अवस्था में जो शरीर सबको आकर्षित करता है, वही शरीर रोगों से घिर जाने पर, जरा-अवस्था आने पर कुरूप हो जाता है। सुगन्धित वस्तु कुछ ही समय में दुर्गंधयुक्त हो जाती है। इष्ट वस्तु ही समय निकलने पर अनिष्ट हो जाती है। एक ही उदर से जन्म लेने वाले भाई-भाई वैरी हो जाते हैं, रिश्ते-नाते सभी बदलते रहते हैं। आज जो प्राणों से प्यारा है, कल वही प्राणों का दुश्मन हो जाता है। इस संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है।

द्वयोः शुक्ला तृतीये च लेश्या सा परमा मता।
चतुर्थः शुक्लभेदस्तु लेश्यातीतः प्रकीर्तितः ।।82।।

अनुवाद :- दो में (शुक्लध्यान के पहले दो पायों में) शुक्ललेश्या, तीसरे में परमशुक्ल-लेश्या मानी गई है तथा शुक्लध्यान का चौथा प्रकार लेश्यातीत कहलाता है।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में शुक्ल शब्द ध्यान के लिए भी प्रयोग किया गया है और लेश्या के लिए भी। शुभध्यान दो प्रकार का होता है- धर्मध्यान और शुक्लध्यान। शुभलेश्या तीन प्रकार की है-तेजो (पीत) लेश्या, पद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या। लेश्या अर्थात् अध्यवसाय, परिणाम, भाव। भाव लेश्या हमेशा एक जैसी नहीं होती है, परिणाम के आधार पर बदल जाती है। शुक्ल के चार पाये हैं, उनमें से प्रथम दो पाये, पृथक्त्ववितर्क-विचार और एकत्ववितर्क-विचार इन दोनों में शुक्ल लेश्या होती है। शुक्लध्यान के तीसरे पाये में, अर्थात् सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती में शुक्ललेश्या उत्कृष्ट कोटि की होती है। शुक्लध्यान के चौथे पाये समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती में मन-वचन-काया के योग का सर्वथा निरोध हो जाता है, अतः इस ध्यान में ध्यानी लेश्यातीत अथवा लेश्यारहित हो जाता है।

लिंगं निर्मलयोगस्य शुक्लध्यानवतोऽवधः।
असंमोहो विवेकश्च व्युत्सर्गश्चाभिधीयते ।।83।।

अनुवाद :- निर्मल योग वाले शुक्लध्यानी के अवध, असंमोह, विवेक और व्युत्सर्ग-ये चार लिंग कहे गए हैं ।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यानी के लिंग कहे गए हैं । लिंग, अर्थात् चिह्न या निशानी, जिससे उसे पहचाना जा सके । लिंग भी दो प्रकार के होते हैं । कुछ चिह्न स्थूल होते हैं, जिन्हें बाहर से भी अनुभव किया जा सकता है । इन्हें द्रव्यलिंग भी कहते हैं । कुछ लक्षण आंतरिक-सूक्ष्म होते हैं, जो बाहर से नहीं दिखाई देते हैं, उन्हें भावलिंग कहते हैं । किसी व्यक्ति को शुक्लध्यान हुआ है-यह किस प्रकार पता चले ? उसके लिए प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यानी के चार भावलिंग बताए हैं-(1) अवध (2) असंमोह (3) विवेक और (4) व्युत्सर्ग । लक्षण उसे कहते हैं, जो अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष से रहित हो, अर्थात् जिस किसी वस्तु या व्यक्ति के जो लक्षण बताए गए हैं, वे लक्षण उसमें तथा उसकी जाति में पूर्णरूपेण व्याप्त हों, किन्तु उसके बाहर अन्य में न हों, जैसे शुक्लध्यानी के जो चार लक्षण बताए गए हैं, वे जो-जो भी शुक्लध्यानी होगा, उनमें होंगे, इसके सिवाय अन्य में नहीं होंगे ।

अवधादुपसर्गेभ्यः कंपते न बिभेति वा ।
असंमोहान्न सूक्ष्मार्थे मायास्वपि न मुह्यति ।।84।।

अनुवाद :- अवध के कारण वे उपसर्ग से कांपते नहीं हैं, अथवा डरते नहीं हैं । असंमोह के कारण वे सूक्ष्म अर्थ में या माया में व्यामोहित नहीं होते हैं ।

विशेषार्थ :- शुक्लध्यान के ध्याता योग-पुरुष के प्रथम दो लिंगों का यहाँ परिचय दिया गया है । अवध का अर्थ है-अचलता, चलायमान नहीं होना । शुक्लध्यान पर आरूढ़ हुए महापुरुष को देह और आत्मा की भिन्नता का भान सतत रहता है, इसलिए देह से उसका ममत्वभाव नष्ट हो जाता है ।

कोई उनका वध करे, मारे या काल बनकर उनके सिर पर मंडराता रहे, तो भी वे भयभीत नहीं होते हैं, काँपते नहीं हैं, व्यग्र या शोकातुर नहीं बनते हैं । भूख, प्यास, धूप, ठंड, मच्छर आदि परिषहों को वे समभाव से सहन करते हैं । सहनशीलता उनका सहज स्वभाव बन जाता है ।

शुक्लध्यानी का दूसरा लिंग है- असंमोह । संमोह का अर्थ है-व्यामोहित हो जाना, ललचा जाना, ठगा जाना, धोखे में रहना आदि का नहीं होना ।

जब ध्यानी शुक्ल ध्यान में मग्न हो, तब चौदह पूर्व में आते हुए सूक्ष्म पदार्थों का एकाग्रता से चिंतन चलता है और उस समय चाहे जितना रहस्यमय गहन पदार्थ हो, तो भी ध्याता का चित्त व्यामोहित नहीं होता है, क्योंकि उसे प्रमाद नहीं होता है और वह श्रद्धा से संपन्न होता है, इसलिए सूक्ष्म अर्थ को समझ सकता है। सूक्ष्म अर्थ के चिंतन में या सूक्ष्म पदार्थों के रहस्य समझने में वह गड़बड़ाता नहीं है, मोहित नहीं होता है, क्योंकि सभी रहस्य उसे स्पष्ट होने लगते हैं। पुनः शुक्लध्यान के प्रकट होने पर ध्याता को कई प्रकार की लब्धियाँ-सिद्धियाँ भी प्रकट होती हैं। देवी-देवता भी उसे ललचाने के लिए, उसकी परीक्षा के लिए मायाजाल रचते हैं, परंतु वह विचलित नहीं होता है।

विवेकात्सर्वसंयोगाद् भिन्नमात्मानमीक्षते।
देहोपकरणासंगो व्युत्सर्गाज्जायते मुनिः ।।85।।

अनुवाद :- विवेक के द्वारा वे सर्वसंयोग से अपनी आत्मा को भिन्न देखते हैं। व्युत्सर्ग द्वारा मुनि शरीर और उपकरण से असंग होते हैं।

विशेषार्थ :- प्रस्तुत श्लोक में शुक्लध्यानी के तीसरे तथा चौथे लिंग की व्याख्या की गई है। तीसरा लिंग विवेक तथा चौथा लिंग व्युत्सर्ग है। विवेक अर्थात् भेदविज्ञान का पुष्ट होना, देह और आत्मा को भिन्न-भिन्न देखना, अनुभव करना। देह के साथ सर्वसंयोग होते हुए भी देह से भिन्नता का उनका विवेक सदा जाग्रत रहता है। जीव और अजीव का जो भेदज्ञान है, वही विवेक है। अविद्या से मुक्त आत्मा अपने-आपको पुद्गल से भिन्न समझते हुए वास्तव में मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ और निराकार हूँ। दूसरा कोई एक परमाणु भी मेरा नहीं है।

कर्म और जीव अनादिकाल से दूध और पानी की तरह एक-दूसरे में ओतप्रोत हैं, किंतु कभी भी एक भी कार्मण-परमाणु जीवस्वरूप नहीं हुआ और जीव का एक भी प्रदेश जड़ नहीं हुआ है। दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। भेदज्ञान के रहस्यों को जानने के लिए अंतरात्मदशा प्राप्त करना जरूरी है। सदा-सर्वदा शुक्लध्यानी के हृदय में निश्चयनय की दृष्टि की अखंड ज्योति प्रज्वलित रहती है। मारणान्तिक-उपसर्गों में भी वे ध्यान से विचलित नहीं होते हैं, जैसे गजसुकुमाल, मेतारजमुनि, खंधकमुनि, आदि कई दृष्टांत

शास्त्रों में आते हैं, जिनके अनुसार भयंकर उपसर्ग भी इन महापुरुषों के ध्यान को भंग नहीं कर सके ।

व्युत्सर्ग- यह शुक्लध्यानी का चतुर्थ चिह्न है । वि+उत्सर्ग अर्थात् विशेष रूप से त्याग करना । वह विवेकपूर्वक देह और उसके साथ संबंधित संयोगों को स्व से भिन्न समझता है । उससे आगे कदम बढ़ाते हुए उसका देह और सभी उपकरणों से असंग हो जाता है, अर्थात् वह उनका त्याग कर देता है । यहाँ त्याग का तात्पर्य यह है कि शरीर और उपाधि के प्रति उनका अल्प भी राग या द्वेष-भाव नहीं रहता है । वे द्रव्य, उपकरण, शरीरादि तथा भाव-कषाय आदि से मुक्त रहते हैं । शुक्लध्यानी मुनि को जब केवलज्ञान हो जाता है, तो जब तक आयुष्य शेष रहता है, तब तक देह रहता है, परंतु देह के प्रति उसका ममत्वभाव नहीं रहता है । इस प्रकार अवध, असंमोह, विवेक और व्युत्सर्ग-इन चार लक्षणों द्वारा शुक्लध्यानी महापुरुष को पहचाना जा सकता है ।

एनं ध्यानक्रमं शुद्धं मत्वा भगवदाज्ञया ।
यः कुर्यादेतदभ्यासं संपूर्णाध्यात्मविद् भवेत् ।।86।।

अनुवाद :- जो (योगी) भगवान की आज्ञा द्वारा शुद्ध ध्यान का यह क्रम जानकर इसका अभ्यास करते हैं, वे संपूर्ण अध्यात्म को जानने वाले होते हैं ।

विशेषार्थ :- इस अधिकार का समापन करते हुए ग्रंथकर्ता अब ध्यान के सामान्य फल की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं । जिनेश्वर भगवान की आज्ञा के अनुसार शुद्ध ध्यान का क्रम इस अधिकार में दर्शाया गया है । आर्तध्यान और रौद्रध्यान-इन दो अशुभ ध्यानों का त्याग करके जीव को क्रमशः धर्मध्यान और शुक्लध्यान की ओर बढ़ना है । जो इन ध्यानों के स्वरूप को जानकर उसके आधार पर नियमित ध्यान करता है, वह योगी अध्यात्म को जानने वाला होता है अर्थात् आत्मा के समीप पहुँच जाता है, स्व से परिचित हो जाता है और पर से संबंध विच्छेद कर लेता है । धर्मध्यान और शुक्लध्यान से शुभास्रव (पुण्यबंध) संवर और कर्म की निर्जरा होती है, अंत में सभी कर्मों का क्षय होने पर केवलज्ञान और मुक्ति प्राप्त होती है । इस प्रकार मुमुक्षु जीवों के लिए ध्यान की महिमा अपरंपार है ।

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
श्री रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. का हिन्दी साहित्य

1. वात्सल्य के महासागर
2. सामायिक सूत्र विवेचना
3. चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना
4. आलोचना सूत्र विवेचना
5. श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र विवेचना
6. कर्मन् की गत न्यारी
7. आनन्दघन चौबीसी विवेचना
8. मानवता तब महक उठेगी
9. मानवता के दीप जलाएं
10. जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है
11. चेतन ! मोहनींद अब त्यागो
12. युवानो ! जागो
13. शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना भाग-1
14. शांत सुधारस-हिन्दी विवेचना भाग-2
15. रिमझिम रिमझिम अमृत बरसे
16. मृत्यु की मंगल यात्रा
17. जीवन की मंगल यात्रा
18. महाभारत और हमारी संस्कृति-1
19. महाभारत और हमारी संस्कृति-2
20. तब चमक उठेगी युवा पीढी
21. The Light of Humanity
22. अंखियाँ प्रभुदर्शन की प्यासी
23. युवा चेतना
24. तब आंसू भी मोती बन जाते है
25. शीतल नहीं छाया रे.(गुजराती)
26. युवा संदेश
27. रामायण में संस्कृति का अमर सन्देश-1
28. रामायण में संस्कृति का अमर सन्देश-2
29. श्रावक जीवन-दर्शन
30. जीवन निर्माण
31. The Message for the Youth
32. यौवन-सुरक्षा विशेषांक
33. आनन्द की शोध
34. आग और पानी-भाग-1
35. आग और पानी-भाग-2
36. शत्रुंजय यात्रा (द्वितीय आवृत्ति)
37. सवाल आपके जवाब हमारे
38. जैन विज्ञान
39. आहार विज्ञान
40. How to live true life ?
41. भक्ति से मुक्ति (पांचवी आवृत्ति)
42. आओ ! प्रतिक्रमण करे (चौथी आवृत्ति)
43. प्रिय कहानियाँ
44. अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव
45. आओ ! श्रावक बने
46. गौतमस्वामी-जंबुस्वामी
47. जैनाचार विशेषांक
48. हंस श्राद्ध व्रत दीपिका
49. कर्म को नहीं शर्म
50. मनोहर कहानियाँ
51. मृत्यु-महोत्सव
52. Chaitya-Vandan Sootra
53. सफलता की सीढ़ियाँ
54. श्रमणाचार विशेषांक
55. विविध-देववंदन (चतुर्थ आवृत्ति)
56. नवपद प्रवचन
57. ऐतिहासिक कहानियाँ
58. तेजस्वी सितारें
59. सन्नारी विशेषांक
60. मिच्छामि दुक्कडम
61. Panch Pratikraman Sootra
62. जीवन ने तुं जीवी जाण (गुजराती)
63. आवो ! वार्ता कहुं (गुजराती)
64. अमृत की बुंदे
65. श्रीपाल मयणा
66. शंका और समाधान भाग-1
67. प्रवचनधारा
68. धरती तीरथ'री
69. क्षमापना
70. भगवान महावीर
71. आओ ! पौषध करें
72. प्रवचन मोती
73. प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह
74. श्रावक कर्तव्य-1
75. श्रावक कर्तव्य-2
76. कर्म नचाए नाच
77. माता-पिता
78. प्रवचन रत्न
79. आओ ! तत्वज्ञान सीखें
80. क्रोध आबाद तो जीवन बरबाद
81. जिनशासन के ज्योतिर्धर
82. आहार : क्यों और कैसे ?
83. महावीर प्रभु का सचित्र जीवन
84. प्रभु दर्शन सुख संपदा
85. भाव श्रावक
86. महान ज्योतिर्धर
87. संतोषी नर-सदा सुखी
88. आओ ! पूजा पढाएँ !
89. शत्रुंजय की गौरव गाथा
90. चिंतन-मोती
91. प्रेरक-कहानियाँ
92. आई वडीलांचे उपकार
93. महासतियों का जीवन संदेश
94. श्रीमद् आनंदघनजी पद विवेचन
95. Duties towards Parents
96. चौदह गुणस्थान
97. पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन
98. मधुर कहानियाँ
99. पारस प्यारो लागे
100. बीसवीं सदी के महान् योगी
101. बीसवीं सदी के महान् योगी की अमर-वाणी
102. कर्म विज्ञान
103. प्रवचन के बिखरे फूल
104. कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन
105. आदिनाथ-शांतिनाथ चरित्र
106. ब्रह्मचर्य
107. भाव सामायिक
108. राग म्हणजे आग (मराठी)
109. आओ ! उपधान-पौषध करें !
110. प्रभो ! मन-मंदिर पधारो
111. सरस कहानियाँ
112. महावीर वाणी
113. सदगुरु-उपासना
114. चिंतन रत्न
115. जैन पर्व-प्रवचन
116. नींव के पत्थर
117. विखुरलेले प्रवचन मोती
118. शंका-समाधान भाग-2
119. श्रीमद् प्रेमसूरीश्वरजी
120. भाव-चैत्यवंदन
121. Youth will shine then
122. नव तत्त्व-विवेचन
123. जीव विचार विवेचन
124. भव आलोचना
125. विविध-पूजाएँ
126. गुणवान् बनें
127. तीन-भाष्य
128. विविध-तपमाला
129. महान् चरित्र
130. आओ ! भावयात्रा करें
131. मंगल-स्मरण
132. भाव प्रतिक्रमण-1
133. भाव प्रतिक्रमण-2
134. श्रीपाल-रास और जीवन
135. दंड़क-विवेचन
136. आओ ! पर्युषण-प्रतिक्रमण करें
137. सुखी जीवन की चाबियाँ
138. पांच प्रवचन
139. सज्झायों का स्वाध्याय
140. वैराग्य शतक
141. गुणानुवाद
142. सरल कहानियाँ
143. सुख की खोज
144. आओ संस्कृत सीखें भाग-1
145. आओ संस्कृत सीखें भाग-2
146. आध्यात्मिक पत्र
147. शंका-समाधान (भाग-3)
148. जीवन शणगार प्रवचन
149. प्रात: स्मरणीय महापुरुष (भाग-1)
150. प्रात: स्मरणीय महापुरुष (भाग-2)
151. प्रात: स्मरणीय महासतियाँ (भाग-1)
152. प्रात: स्मरणीय महासतियाँ (भाग-2)
153. ध्यान साधना

SHUBHAY
Cell : 98205 30299